ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रंथमाला, हिन्दी ग्रन्थाङ्क—१९

संस्मरण

बनारसीदास चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

निवेदन

सुप्रसिद्ध यूरोपियन समालोचक जार्ज ब्राण्डीजने अपनी सस्मरणात्मक पुस्तक "Creative spirits of the nineteenth century" 'उन्नीसवीं शताब्दीके कलाकार'मे लिखा था:—

"जब हम अपने जीवनके भिन्न-भिन्न समयोमे लिखे हुए लेखोंको इकट्ठे करने बैठते हैं तो यह देखकर हमे खेद होता है कि काल भगवान्‌की तराजूमे यह सग्रह कितना हल्का साबित हुआ है। दूसरे आदमियोंके चरित्रोका चित्रण करते हुए दरअसल हम अपनी प्रकृतिकी ही झलक प्रस्तुत कर देते है, अपने जीवन रूपी ग्रन्थके ही कुछ पृष्ठ पाठकोंके सामने रख देते हैं, या यों कहिए अपनी ही जिन्दगीके टुकड़े प्रदर्शित कर देते हैं। जिस समय हम दूसरे आदमियोकी तस्वीर खींचते है, उस वक्त दरअसल हम अपने कार्य, अपनी रुचि, अपनी श्रद्धा, अपनी मित्रता और अपने यौवनका ही चित्र खींच देते हैं—अर्थात् इन सबके सम्मेलनका बचा-खुचा वह हिस्सा प्रकाशमे ले आते है, जो क्षणभरके लिए समयरूपी समुद्रके ऊपर उतराता हुआ नजर आता है और फिर सदाके लिए रसातलमे विलीन हो जाता है—जो वस्तुतः स्वप्नकी छायाके समान है।"

इस दृष्टिसे इस पुस्तकके इक्कीस लेखोमे पाठकोंको वस्तुतः हमारी प्रकृति, हमारे स्वभाव और हमारी रुचि का ही चित्रण मिलेगा।

इन सस्मरणोके लिए मसाला इकट्ठा करनेमे हमें काफी समय देना पड़ा है। उदाहरणार्थ स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठकजीके यहाँ पद्मकोटमे बीस दिन निवास करनेका सौभाग्य हमे प्राप्त हुआ था और उन दिनोंके इकट्ठे किये हुए नोटोंके आधार पर ही हम वह लेख लिख सके। दीनबन्धु

ऐण्ड्रूजके सत्संगका सौभाग्य तो हमे पच्चीस वर्षसे अधिक तक प्राप्त रहा, यद्यपि एक साथ हम केवल चौदह महीने ही उनकी सेवामें शान्ति-निकेतनमे रह सके। पूज्य द्विवेदीजीके साथ हमारा चौदह वर्ष तक पत्रव्यवहार रहा था और तीन-चार बार हमने उनके ग्राम दौलतपुरकी तीर्थयात्रा भी की थी। स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थीके प्रथम दर्शन हमे सन् १६१५ मे हुए थे और सम्पादकशिरोमणि श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायके चरणोके निकट बैठकर कुछ सीखनेका मौका हमें दस वर्ष मिला। अमरशहीद चन्द्र-शेखर आज़ादकी माताजीने हमारे यहाँ पधारकर चौदह दिन रहनेकी कृपा की थी। पाठक देखेंगे कि इस सग्रहमे हमने भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यक्तियोके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

हिन्दी साहित्यमे जिन महानुभावोने सस्मरण लिखे हैं, उनमे आचार्य पं० पद्मसिह शर्माका नाम सबसे पहले लिया जायगा। यह बात नही कि उनके पहले सस्मरण न लिखे गये हो। स्वय द्विवेदीजी ने स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट पर एक बढ़िया संस्मरणात्मक नोट लिखा था और यदि हम उर्दूको भी हिन्दी ही की एक शाखा मान ले तो मुशी दयानारायणजी निगमका बाबू बालमुकुन्द गुप्त विषयक लेख सस्मरण साहित्यकी एक अमूल्य निधि माना जायगा। प्रेमचन्दजी पर भी निगम साहबसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं लिख सका और मौलवी अब्दुलहक साहबने सर रौस मसूदसे लगाकर छोटेसे छोटे माली और सिपाही तकके जो संस्मरण लिखे है वे उच्चकोटिके है।

दरअसल स्वर्गीय पं० पद्मसिहजी ने महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न, पं० भीमसेन शर्मा इत्यादिके संस्मरण लिखकर सहृदयतापूर्ण चित्रणकी एक परम्परा ही कायम कर दी थी, जो अभी तक अद्वितीय बनी हुई है। अपनी पद्मपराग नामक पुस्तकमें उन्होंने इन महत्त्वपूर्ण सस्मरणो का संग्रह प्रकाशित कर दिया था। वैसे प्रो० पूरण सिंहजी के भी संस्मरण

उन्होने "विशाल भारत" मे लिखे थे। महाकवि अकबरके संस्मरण तो लाजवाब है। क्या भाषा और क्या भाव, दोनोके ख्यालमे वे सस्मरण हमारे साहित्यमे आदर्श माने जायँगे। महाकवि अकबरके प्रथम दर्शनका वृत्तान्त शर्माजी के ही शब्दोमे सुन लीजिये :—

"सबसे पहली मुलाकातकी एक बात अक्सर याद आ जाती है। पत्र-व्यवहार तो बहुत दिनोंसे चल रहा था। दोनों ओरसे मुलाकातकी तमन्ना का इजहार होता आ रहा था, पर उससे पहले मिलनेका मौका न मिला था। कलकत्तेसे लौटता हुआ मै मिलनेकी गरजसे ८ मार्च, सन् १९१५ को प्रयाग उतरा। एक जगह असबाब रखकर सीधा इशरत-मजिल पहुँचा। पहलेसे कोई सूचना नही दी थी। गया और सलाम करके कुछ फासलेपर पडी हुई सामने की एक कुरसीपर अदबसे बैठ गया। अकबर साहब उस वक्त एक सज्जनसे बाते कर रहे थे। थोडी देर बाद नजर मिली तो पूछा—

"कहाँसे आप तशरीफ लाये?" मैने नाम बताया तो बडी उत्सुकता से उठे और मेरी ओर बढे, मै खडा हो गया। पास आकर बड़े प्रेमसे मुसकराते हुए बोले, "माफ कीजिए, मालूम न था, आप है। पडित साहब कुछ हर्ज तो न होगा, आपको नागवार तो न गुजरेगा, मै बगलगीर होकर मिल लूँ?" मैने झुककर कहा, "जहे किस्मत, बगलगीरी क्यों, कदम बोसी भी हासिल हो जाय तो मुराद पा जाऊँ।" फिर बडे प्रेमसे गले मिले और देर तक खूब खुलकर बेतकल्लुफीसे बातें करते रहे। जब मैं रुखसत होने लगा तो कहने लगे इतनी जल्दी? आपका असबाब कहाँ है? यह न होगा। आपको यहीं कयाम करना होगा। तशरीफ रखिये। अभी आदमी जाकर असबाब उठवा लाएगा।"

"मैने अर्ज किया कि मुझे आज ही रातको जाना है। दो एक जगह और मिलना है। जानेको जी तो नहीं चाहता, फिर कभी हाजिर हूँगा।

अब इजाजत दीजिए। मुश्किलसे इजाज़त मिली। बागके हिन्दू मालीको बुलाकर हुक्म दिया, बाजारसे दो रुपयेकी उम्दा मिठाई और कुछ फल लाओ, और पडितजी के डेरेपर पहुँचा आओ। मैने हर चन्द कहा, इसकी क्या जरूरत है, पर एक उज्र न सुना, मिठाई और फल मँगवाकर ही माने। प्रसाद समझकर स्वीकार करना पडा।"

अच्छे संस्मरण लिखनेके लिए जिन गुणोंकी आवश्यकता है, सहानुभूतिपूर्ण हृदय, सूक्ष्म विश्लेषण, सजीव चित्रण शक्ति और सहज स्वाभाविकता, वे सब अच्छी मात्रामे पण्डित पद्मसिहजी मे विद्यमान थे। इसलिए इस विषयमे वे अद्वितीय कहे जा सकते है।

सस्मरण, रेखाचित्र और आत्मचरित इन तीनोका एक दूसरेसे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एककी सीमा दूसरेसे कहाँ मिलती और कहाँ अलग हो जाती है इसका निर्णय करना कठिन है। इन तीनोमे स्मरणशक्तिसे काम लेना पडता है और स्मरणशक्ति एक ऐसी चीज है, जो प्रायः धोखा दे देती है!

संस्मरण लिखनेकी कला—

सस्मरण लिखनेकी कलाका पहला नियम—बल्कि धर्म कहिए—यह है कि आवश्यक बातचीतको अथवा भावोको तुरन्त नोट कर लिया जाय। जो लोग नियमानुसार डायरी रखते हैं, उनके लिए सस्मरण लिखना आसान हो जाता है। केवल स्मरण शक्तिके भरोसे बैठे रहनेसे काम नहीं चल सकता। स्फीटन ज्विगने अपनी पुस्तक "Adepts in self-portriraiture" मे एक जगह लिखा है :—

जिस तरह किसी नदीकी तहमें पत्थर एक दूसरेपर लुढकते रहते हैं, उसी प्रकार स्मरण शक्तिकी धारामें घटनाएँ एक दूसरेका अतिक्रमण करती रहती हैं [उस जमघटमें वे ऊपर नीचे जाती आती रहती हैं] प्रारम्भिक

भावनाओंपर बादकी भावनाएँ छा जाती हैं और नये संस्मरण पुराने संस्मरणोंमे कुछ परिवर्तन ला देते है, उनमे रद्दो-बदल कर देते हैं।"

स्वर्गीय महादेव भाई देसाईने जो डायरी बापूके विषयमे लिखी थी वह आज नहीं तो कल विश्व-साहित्यमे अत्युत्तम स्थान पावेगी। इस विषयमे तो महादेव भाई जानसनकी जीवनीके लेखक बौसवैलके समकक्ष माने जायँगे।

अन्य निबन्धोकी तरह संस्मरणों की रोचकता उनके प्रारम्भ तथा अन्त पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है। जार्ज ब्राण्डीजने अपना एक संस्मरण इस प्रकार शुरू किया था—

"जुलाई १८७० की बात है। मै पेरिसमे अपने होटलके कमरेमें टहल रहा था, एक किताब मेरे हाथमे थी, कि इतनेमे किसीने दरवाजा खट-खटाया। मैंने समझा कि घडीसाजका कोई नौकर आया होगा, जो प्रति सप्ताह होटलकी घडियोंमें चाबी देने आता था और वह वक्त उसके आनेका था भी। मैंने दरवाजा खोल दिया। बाहिर देखा तो एक लम्बा, पतला वयोवृद्ध आदमी खडा है। मैंने कहा—"भीतर आ सकते हो।" और फिर अपनी किताब पढने लग गया। लेकिन आगन्तुक महानुभावने पूछा—"क्या आपका ही नाम मिस्टर जार्ज ब्राण्डीज है?" मैंने हाँ कहा, तब वे बोले, "मै मिस्टर मिल हूँ" अगर वे सज्जन अपनेको पुर्तगालके सम्राट् कहते तो मुझे उससे अधिक आश्चर्य न होता। नैपोलियन कभी-कभी अपनी सेना निरीक्षणके अवसर पर प्रेम-पूर्वक अपने किसी सिपाहीके कान मल दिया करते थे और उससे उस सिपाहीको जितना हर्ष होता था, उससे कम खुशी मुझे जान स्टुआर्ट मिलके आगमनसे नहीं हुई।"

ए० जी० गार्डिनरके रेखाचित्रोका भी प्रारम्भ बडे कलापूर्ण ढगसे होता था और बन्धुवर श्रीराम शर्मा भी अपने प्रारम्भिक वाक्यो पर काफी परिश्रम करते है।

व्यक्तिगत सम्पर्क तो संस्मरण-कलाकी जान ही है। फ्रैंक हैरिसने एक लेखकसे कहा था—"अमुक कविकी कविता मे यदि कुछ गुण है तो पचास वर्ष बाद भी सुयोग्य आलोचक उनका पता लगा लेंगे, पर जो छोटी-छोटी बाते उस कविके विषयमे तुम्हींको मालूम है उनका महत्त्व है। वे ही तुम्हारे ग्रन्थकी विशेषता होगी।"

गोर्कीकी संस्मरण कलाका तो कहना ही क्या है! उनके लिखे टाल्सटाय तथा चेखव और लेनिनके संस्मरण विश्व-साहित्यकी चीज बन गये है। रोमा रोलॉने अपनी पूज्य माताजीके जो संस्मरण लिखे है वे भावनाओंकी कोमलताके ख्यालसे अद्वितीय बन पड़े है[1]।

श्री दिलीपकुमार रायने 'Amang the Gieat' (महापुरुषोंके बीचमे) नामक पुस्तकमें महात्मा गान्धी, कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा रोमा रोला और ऋषिवर अरविन्दके जीवनके जो संस्मरण लिखे है उनमे ऊँचे दर्जेकी कलाका प्रदर्शन हुआ है। चूंकि श्री दिलीपकुमार राय स्वयं बड़े सुयोग्य कलाकार है, और एक महान् नाटककार डी० ऐल० रायके पुत्र भी, इसलिए उनके सम्मुख इन सभी महानुभावोंने दिल खोलकर बात-चीत की थी।

श्रीमान् इन्द्रजीको भी ये दोनो सौभाग्य प्राप्त है, इसलिए उनके संस्मरण भी बहुत बढ़िया बन पड़े है। डाक्टर अंसारीके विषयमे लिखा हुआ उनका संस्मरण तो इस कलाका एक नमूना ही था। महात्मा गान्धीजीने राजर्षि गोखलेके जो संस्मरण लिखे थे वे अद्भुत थे। उसी प्रकार दीनबन्धु ऐण्ड्रूजने हमारे आग्रहपर अपनी स्वर्गीय माताके हृदयग्राही संस्मरण लिख भेजे थे।

---

१ "Journey Within" नामक पुस्तकमें उनकी पुस्तकका अंग्रेज़ी अनुवाद दिया गया है।

निवेदन

हिन्दीके अन्य सस्मरण-लेखकोंने इस क्षेत्रको कहाँ तक विस्तृत किया है, इस विषयपर एक अलग निबन्ध ही लिखा जा सकता है। सर्व श्री श्रीराम शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, सत्यवती मलिक, शान्तिप्रिय द्विवेदी और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरने निस्सन्देह संस्मरण-लेखन कलामे चार चॉद ही लगा दिये हैं। पत्रोके स्मृति सम्बन्धी विशेषाकोंमे भी अनेक उपयोगी सस्मरण छपे है। 'विशालभारत', 'सैनिक' तथा 'त्यागी' के पद्मसिंह अको और 'ज्ञानोदय' के सस्मरण अकमे इस विषयकी प्रचुर सामग्री विद्यमान है। पर हिन्दीके संस्मरण साहित्यके, जो अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें ही है, समुचित विकासके लिए यह आवश्यक है कि भारतकी अन्य भाषाओंमे तथा अग्रेजी इत्यादिमे भी इस विपयपर जो भी साहित्य प्रकाशित हुआ है उसका भी विधिवत् अध्ययन कर लिया जाय।

प्रिंस क्रोपाटकिन, रोमारोला तथा स्फीटन ज्विग, फ्रैङ्क हैरिस, टी० पी० ओकोनूर और सर एडमण्ड गौसकी रचनाओंमे इस विषयके अनेक उत्कृष्ट दृष्टान्त पढ़नेको मिलेंगे। ऋषिवर एमर्सनने अपने मित्र थोरोको जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी वह भी संस्मरण-कलाका एक नमूना मानी जायगी। हमारे देशके अनेक महापुरुषोकी रचनाएँ सस्मरणात्मक निबन्धोंसे परिपूर्ण हैं। महात्मा गान्धी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रभृतिके ग्रन्थोमे से ऐसे कितने ही प्रसंग आते है, जहाँ इस कलाका अच्छा प्रदर्शन हुआ है। श्रीमान् डा० कैलाशनाथ काटजू साहब ने अपने माता-पिताके संस्मरण लिखकर अपनी योग्यताका अच्छा परिचय दिया है।

साहित्यमें रुचि रखनेवाले अपने पाठकोंसे हम निवेदन करेंगे कि वे स्वय इस विषयको अपनावें। यदि साधारण से साधारण व्यक्ति भी सीधी सादी जबानमे अपनी अनुभूतियोको लिख दे तो आगे चलकर वे अच्छे संस्मरणोका मसाला बन सकती है।

अन्तमे एक प्रार्थना और। यदि हम यथासम्भव परनिन्दा तथा दोष-दर्शनसे बच सकें और स्वय अपनी त्रुटियोको स्वीकार करनेका हममें साहस हो तो हमारे सस्मरण दूसरोंके लिए भी पथप्रदर्शक बन सकते है।

हमे एक बात न भूलनी चाहिए कि सस्मरण लिखते समय लेखक अपनी संस्कृतिका भी परिचय दे देता है। जो लोग तुनकमिजाज होते है अथवा जिनमें बदलेकी भावना होती है, वे ऐसी छोटी चीजोका चिर-स्थायी रेकर्ड छोड जाते है, जिन्हे भूल जानेमे ही उनका तथा पाठकोंका कल्याण होता।

सुसंस्कृतिका यह तकाजा है कि उन क्षुद्र बातोंको छोड़ ही दिया जाय। प्रिंस क्रोपाटकिनने अपने सुविख्यात आत्म चरित "Memoirs of revolutionist" (एक क्रान्तिकारीके सस्मरण) मे जेलखानेके एक धूर्त अत्याचारी डाक्टरके विषयमे केवल एक वाक्य लिखा है—"The less said about him the better" यानी "उन डाक्टर साहबके विषयमें जितना ही कम कहा जाय उतना ही बेहतर होगा।" पर कठोर और चुभती हुई चीज कहनेका मोह इतना प्रबल होता है कि उसे रोक लेना बड़े-बडोके लिए भी आसान नहीं। स्वर्गीय प० पद्मसिंहजी शर्मा और आचार्य श्यामसुन्दर दासजी भी इस मोहपर काबू नहीं पा सके। उनसे भी कभी-कभी गलतियाँ बन पड़ी है।

किसी भी व्यक्तिके गुण-दोषोका सतुलित और विवेकपूर्ण वर्णन करना आसान काम नहीं। अच्छे चित्रोंमे प्रकाश तथा छायाका जो सामंजस्य होता है, उसीमे कलाकारका कौशल प्रकट होता है। माननीय बाबू श्रीप्रकाशजी अपनी स्वभावगत सुसस्कृतिके द्वारा अपने संस्मरणोमें बडी खूबीके साथ इस दुर्लभ सामजस्यको उपस्थित कर देते है, पर उनकी नकल करना खतरनाक है।

इस अवसरपर हमें एमर्सनकी एक कविता Humble bee (विनम्र मधुमक्षिका) याद आ रही है। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

निवेदन

Aught unsavoury or unclean
Has my insect never seen
Seeing only what is fair
Sipping only what is sweet

यानी मेरी मधु मक्खीने कभी कोई बदजायका या गन्दी चीज़ नहीं देखी। उसकी दृष्टि तो सदैव सुन्दर वस्तुओंपर ही पड़ती है और मधुर पदार्थोंका ही वह रस चखती है।

यही आदर्श हमने अपने सामने रक्खा है। उसके अनुसार चलनेमें हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय अधिकारी पाठक या आलोचक ही कर सकते हैं।

९९ नार्थ ऐवेन्यू,
नई दिल्ली,
३० जनवरी, १९५८

—बनारसीदास चतुर्वेदी

संस्मरण-सूची

१—कविवर पं० श्रीधर पाठक	...	६-२८
२—मेरी तीर्थ-यात्रा	...	२६-४७
३—बड़े दादा श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर	...	४८-५७
४—श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय	..	५८-६७
५—दीनबन्धु एण्ड्रूज	...	६८-७५
६—स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजी	...	७६-६१
७—श्री गणेशशकर विद्यार्थी	...	६२-१०८
८—द्विवेदीजीके साथ चार दिन	...	१०६-१३७
६—सम्पादकाचार्य प० रुद्रदत्त शर्मा	...	१३८-१४६
१०—मीर साहब	...	१४७-१६५
११—किशोरीलालजी गोस्वामी	...	१६६-१७१
१२—श्री कृष्णबलदेव वर्मा	...	१७२-१७६
१३—प० तोताराम सनाढ्य	..	१८०-१८६
१४—स्वामी भवानीदयाल सन्यासी	...	१८७-१६७
१५—स्व० पीर मुहम्मद मूनिस	...	१६८-२०६
१६—स्वर्गीय वर्माजी	...	२०७-२१५
१७—नारायणदास खरे	...	२१६-२२४
१८—स्वर्गीय देवीदयाल गुप्त	...	२२५-२३६
१६—श्री शीलजी	...	२४०-२५२
२०—स्वर्गीय साधकजी	...	२५३-२६०
२१—आजादकी माताजी	...	२६१-२६८

कविवर पं० श्रीधर पाठक

कविवर प० श्रीधर पाठकजीका नाम बहुत दिनसे सुनता आ रहा था। पिताजी और वे साथ-साथ एक स्कूलमे पढ़े थे। इस बातपर अभिमान था कि पाठकजी हमारे ही नगर फीरोजाबाद परगनेके निवासी थे और हमारे ही स्कूलके एक पुराने छात्र! न जाने कितनी बार उनकी निम्नलिखित पक्तियोको दुहराया था—

"सुरपुर और कश्मीर दोउनमें को है सुन्दर,
को सोभाको भोन रूपको कौन समुन्दर?
वाकौ उपमा उचित दैन दोउनमें काकी,
याकौ सुरपुरकी अथवा सुरपुरकौं याकी?
याकौ उपमा याहीकी मोहि देत सुहावै,
या सम दूजौ ठौर सृष्टिमे दृष्टि न आवै,
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुन्दर?
यहि अमरनकौ ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर।"

उनकी और भी अनेक पक्तियाँ कठाग्र थी। यद्यपि पाठकजीके दर्शन करनेका सौभाग्य सन् १९१५ मे फ़ीरोज़ाबादमे ही प्राप्त हो चुका था, जब कि वे प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके सभापतिकी हैसियतसे वहाँ पधारे थे, पर उनके निकट सम्पर्कमे आनेका सुअवसर अभी तक नहीं मिला था। इसलिए उनके ४।५।२० के पत्रके निम्न-लिखित अंश पढकर और यह सोचकर कि बहुत दिनोकी अभिलाषा अब पूर्ण होगी, हार्दिक हर्ष हुआ—

"आप अपने आनेका वचन पूरा कीजियेगा अवश्य और अवश्य अपने ही स्थान (पद्मकोट) पर ठहरिएगा। मै जानता हूँ, यहाँपर कुछ चतु-

वैदियोंके घर है, और आपके शायद कोई नातेदार भी होंगे, परन्तु हमारा आपका गाँवका नाता उन सबसे जबर्दस्त है, उसे उपेक्षित न कीजियेगा। जोंधरी और 'फिरोजाबाद' को न भूलियेगा।

स्नेहाकृष्ट—श्री० पा०।"

मई सन् १६२० मे पाठकजीकी सेवामे उपस्थित हुआ और लगभग दो सप्ताह तक पद्मकोटमे स्थित पद्मकुटीरमे रहा। इस बीचमे बीसियो बार उनसे बातचीत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और अनेक विषयोपर उनके विचार जाननेका अवसर भी मिला। पाठकजीकी कविताके अतिरिक्त जिन बातोका मुझपर अधिक प्रभाव पडा, वे थी उनकी सुरुचि, सुप्रबन्ध-शक्ति और सौन्दर्य-प्रेम। उनकी पद्मकोट नामक कोठी उक्त तीनो चीजोके सम्मिश्रणका परिणाम थी। आज लूकरगंज रोडपरसे जाते हुए यात्रीको उनके उस उद्यानमे कूड़े-करकटके ढेर पड़े हुए यदि दीख पडे, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं, पर स्वर्गीय पाठकजीकी विद्यमानतामे यह असम्भव था। जिस प्रकार अपनी कविताके पदोमे काट-छाँट और सशोधन वे अन्तिम समय तक करते रहते थे, उसी प्रकार अपने उद्यानके वृक्षोको भी सुसज्जित रखने की उन्हे निरन्तर चिन्ता रहती थी। नवीन आगन्तुकोको वे बडे प्रेमके साथ अपने उद्यानके वृक्ष दिखलाते थे। स्वयं मैने ये वृक्ष उनके उपवनमे देखे थे—

अनार, अमरूद, अमलताश, अशोक, आँवला, आम, कचनार, कटहल, कमरख, करौदा, कुन्द (दो तरहके), केना, केला, क्रोटन, खिन्नी, गुडहर, गुलाब, (पाँच-छैः तरहके), गुलाबकी लता, चमेली, जुही, डाइटिनाकी बाड, ताड, नीबू, फालसा, बडहर, बडी लिली बेत, बेला, मिह्वा, मौलिश्री, रायल-केन, रेलिया (पाँच प्रकारके), लीची, शरीफा, शहतूत, सुदर्शन, सेंजना और स्थल-कमल।

वास्तवमे पद्मकोट पाठकजीकी सर्वोत्तम कृतियोमेसे है, बल्कि यों कहना चाहिए कि यदि वे अपने जीवनमे केवल काश्मीर-सुखमा और पद्मकोटकी ही रचना करते, तब भी वे कविता तथा सौन्दर्यके प्रेमियोके लिए चिरस्मरणीय हो जाते।

उस समय पाठकजीकी बाते सुनना हिन्दीके ४० वर्ष (१८८०—१९२०) के इतिहासका अध्ययन करना था। पाठकजीने अपनी बाल्या-वस्थाकी बहुत-सी बाते सुनाईं। सन् १८७४ की बात है। पाठकजीके हिन्दी-स्कूल कोटलामे इन्सपेक्टर लायड साहब वार्षिक परीक्षा लेने आये। ऊँची दफाओके लडकोंको पढनेके लिए खडा किया गया। पाठकजी नीची दफामे थे, पर उनको सब डिप्टी इन्सपेक्टरने ऊँची दफाके साथ पढनेको खडा कर दिया। उनके पढनेकी बारी आई, तो उन्होंने भूगोलकी पुस्तकमेसे, जो थोडी देर पहले ही उन्हे पारितोषिकमे मिली थी, पढा— "दाबह चज उस धरतीका नाम है, जो चिनाव और झेलमके बीचमे है।"

साहब—"इसका मतलब कह सकता है?"

पाठकजी—"चिनाव कौ च लयौ और झेलमको ज लयौ—चज बनि गयौ।"

साहबने मुँहमे उँगली दी। डिप्टी इन्सपेक्टर, सब डिप्टी इन्सपेक्टर, मुदर्रिस, विद्यार्थी तथा दर्शकगण चकित हुए और ग्राम तथा जिले-भरके मुदर्रिसी आसमानमे एक शोर मच गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाठकजीने इस पुस्तकको पहले कभी नही पढा था और न इस दोआबका नाम ही कही सुना था।

पाठकजी अपने गुरु पूज्य प० जयरामजीका नाम बड़े सम्मानके साथ लेते थे। मैने उनसे प्रार्थना की कि आप प० जयरामजीके विषयमे मुझे कुछ लिखा दीजिए। उन्होंने कहा—"अच्छा, लिखो", और निम्नलिखित पंक्तियाँ बोलकर लिखाईं—

"पूज्य पं० जयरामजी उन हिन्दुस्तानी ग्रामीण सज्जनोंके नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्यसमाज अपना गौरव-युक्त स्थान सुरक्षित किये हुए है। उनमे वे सब गुण थे, जो एक साधारण मनुष्यको सच्चे मनुष्यत्वकी पदवी प्रदान करते है। सबसे प्रथम उनके गुणोंमें गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुखमंडल—जिसमें बुद्धिकी तीव्रता, सात्त्विक भावव्यंजक मस्तककी विशालता, आन्तरिक महत्त्व-प्रदर्शक नेत्रोंकी तेजस्विता, गौरवर्णकी समुज्ज्वलतासहित अपनी-अपनी सत्ताका स्वतन्त्र रीतिसे साक्ष्य देती थीं—उनके मित्र और शिष्यवर्गके हृदयपर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करनेकी शक्ति रखता था। वे सब प्रकारकी सहनशीलताकी मूर्ति थे। मुझको उनमे कोई भी अवगुण दृष्ट नहीं आता था। वे प्रायः अपने सिरको एक सफ़ेद रंगकी बडी पगडीसे विभूषित रखते थे, लम्बा अगा पहनते थे और जहाँ वह जा निकलते थे, प्रतिष्ठित गौरवका रूप बँध जाता था। जो उनको देखता था, रौबमे आ जाता था और उनकी इज्ज़त करता था। एक दफा पडितजीकी आगरा-कालेज बोर्डिङ्गहाउसमें वहाँके सुपरिण्टेण्डेण्ट मास्टर सालिगरामसे मुलाकात हुई। मास्टरजीके पूछनेपर कि आप कब तशरीफ़ लाये, उन्होने जवाब दिया—'हूँ सा'ब, चारि बजेकी गाडी पै आयो हो।' वे अधिकतर ऐसी ही ग्राम्यभाषाका व्यवहार किया करते थे, और वह उनके मुखसे एक विशेष महत्त्व और रुचिरता लिये हुए श्रवणोंको आनन्द देती थी।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प० जयरामजीने ही पाठकजीको अपनी पढ़ाई जारी रखनेके लिए उत्साहित किया था। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीधरजी तहसीली स्कूलमे पढ़नेके लिए नही आ रहे है, तो वे स्वयं पाठकजीको लेनेके लिए उनके ग्रामपर गये! जोधरी पहुँचकर उन्होने पाठकजीसे भाषाभास्करमे से अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर यथा-रीति ठीक-ठीक उन्हें मिले। फिर कुछ रेखागणित आदिमे भी पूछा।

श्रीधरजीको रेखागणितमे बडी दिलचस्पी थी, उन्होने उन प्रश्नोंका उत्तर भी बडी सफलताके साथ दिया। तब पं० जयरामजीने अपने आनेका प्रयोजन प्रकट किया। श्रीधरजीको यह जानकर कि अब एक बडे मदरसेमें पढने और एक शहरमें रहनेका अवसर मिलेगा, हार्दिक प्रसन्नता हुई। श्रीधरजी तहसीली स्कूलमे जाकर पढे और परीक्षामें सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेशमे उनका नम्बर प्रथम आया।

आज कितने शिक्षक हमारे यहाँ इस प्रकारके है, जो योग्य छात्रोको इस प्रकार तलाश करके अपने विद्यालयमे लावे ?

पद्मकुटीरमें रहते हुए 'हिन्दी-प्रदीप'के पुराने अक भी देखनेको मिले जिनमे पाठकजीके लिखे हुए नाना प्रकारके हास्यरसपूर्ण लेख थे। दिसम्बर १८८४ के अकमे उन्होंने एक औषधि लिखी थी, उसे सुन लीजिए—

"बीमार हिन्दके लिए सिहतावर जोशाँदा :

फूटके कडुवे दाने	३ माशे
तुख़्म कुढग	१ तोला
ज़िद्द और काहिलीकी सूखी फली	२ तोला
रोग़न फसाद	६ माशे
गुल ग़ुलामी	३ माशे
मग़ज़ पंडिताई	३ तोला

इन सब दवाइयोंको कूट-पीस कपरछन कर ५ सेर काले पानीमें चढा दो, जब पानी जलते-जलते छँटाक रह जाय, तब सेर-भर बर्फ़ और सोडा वाटरमें मिलाय मियाँ हिन्दको पिला दो और नीचे लिखा मरहम उनके बदनभरमें पोत दो, तो ज़रूर सब नसूर फौरन् दूर हो घावोको पुरा देगा।

मरहम

विलायती कुतियाकी ज़बान
अंग्रेज़ी लियाकतका तेल
लाल समुद्रका पानी
काले आदमियोंकी मोमियाई ।

यकीन कामिल रखो, इन दो दवाइयोंसे हजरत हिन्दुस्तानको जरूर आराम हो, इस बुढापेमें भी एक बार फिर पहलेके-से हट्टे-कट्टे संड-मुसंड हो उठेंगे ।

हकीम—पस्त दिल, शिकस्त अकिल—ख़फगान—लुकमान ।"

जुलाई १८८५ के 'हिन्दी-प्रदीप' में उन्होंने एक गद्यपद्यमय निबन्ध लिखा था, वह भी पढने लायक है—

"आता है

आता है—अच्छा साहब, क्या आता है—सच जानिये, हमें तो कुछ नही आता, जो आपको बतला सकें कि कहाँ-कहाँ क्या-क्या आता है—हाँ, इतना अलबत्ता कह सकते है कि आजकल गर्मी ख़ूब पड़ रही है, सो सभीके बदनमे पसीना आता है, जिससे जी ऐसा उकताता और घबराता है कि कुछ कहते नही बन आता—वरन् कभी-कभी तो जीमे ऐसा पागलपन समा जाता है कि ख़यालके टट्टूको नैनीताल ही की तरफ भगा ले जाता है और जब उस सर्दिस्तानमे पहुँच जाता है, तभी चैन आता है । ख़ैर, ज्यों-त्यों गर्मी बीती वर्षा आई, अब गगनमें भ्रमण करती हुई सघन-वन-उपवन विहारिणी, मनोहारिणी हरियालीकी डहडही छविकी छटा देख वियोगीजन सावधान हो जाओ—

नाना कृपाण निजपाणि लिये, बपु नील बसन परिधान किये,
गम्भीर घोर अभिमान हिये, छकि पारिजात मधुपान किये,

छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पल पलपर आकृति कोर झुकावत
वन राह बाट श्यामता बढावत
वैधव्य बाल वामता बढावत
यह मोर नचावत शोर मचावत
स्वेत-स्वेत बगपाँति उडावत
शीतल-सुगन्ध सुन्दर अमन्द नन्दन प्रसून मकरन्द बिन्दु मिश्रित
समीर बिन धीर चलावत
अन्धयारि रात हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल-विधवा डरात
तिनके मन-मन्दिर आग लगावत
छिन गर्ज-गर्ज पुनि लर्ज-लर्ज निज सेन सिखावत, तर्ज-तर्ज
दुन्दुभी धरणि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत बिहाग रसप्रेम पाग अहो धन्यभाग
सुख पावत मेह महावत आवत।

हे विरहिनी-जन ! चेत करो, धीर धरो—उडाता ख़ाक सिरपर झूमता (मेघ) मस्ताना आता है।' हे मयूरी, तुम्हारी—आर्त घोषणा श्रवणकर मेघ महाराणा चला आता है।

छलकता बेधडक यह बारिशे दीवाना आता है।
सुनाया हमने इतना आपको लिख करके मुशफ़िक़ आज
यकी है अब तो समझोगे हमें कुछ भी तो आता है।"

इस प्रकारके और भी बीसियों मनोरजक लेख पाठकजीने 'हिन्दी-प्रदीप' में लिखे थे, जिनमे कितने ही तो उनके नामके बिना ही छपे थे।

पाठकजीसे नित्यप्रति काफी देर तक बातचीत हुआ करती थी। उन बातोंके सक्षिप्त नोट मैंने अपनी नोटबुकमे ले लिये थे। पाठकजीने कहा—"किसी-किसीका कहना है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि

नही है, लेकिन मेरी समझमे तो वे अत्युत्तम कवि है। ग्राम्यभाषाका प्रयोग नहीं करते और उनकी कोमलकान्त पदावली मनोहारिणी होती है।" एक भारतीय आत्मा (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) की कविताके 'निराले ढग' को भी उन्होने बहुत पसन्द किया था। मैने पाठकजीको माखनलालजीकी यह कविता सुनाई, जो उन्होने कविरत्न सत्यनारायणके स्वर्गवासके विषयमे लिखी थी—

"यह कोमल काकली कलित-सी सीखी वृन्दाविपिन निवेश
मस्त कान्हको कर-कर देती हर-हर लेती हृदय प्रदेश।
राष्ट्र भारतीके उपवनमे होती रहती थी वह कूक,
कर-कर दिये क्रूरताओंके उसने सदा करोड़ों टूक।
वह कोकिल उड़ गया, गया—वह गया—कृष्ण दौड़ो लाओ!
वनदेवीका धन लौटा दो सच्चे नारायण आओ।"

इस कविताको पाठकजीने बहुत पसन्द किया, लेकिन चतुर्वेदीजीकी 'लो आया' शीर्षक कविताको हम दोनोमेसे कोई भी नहीं समझ सका। खेद है कि मेरे पास उन दिनों उनकी 'हृदय' शीर्षक कविता नहीं थी। मुझे विश्वास है कि पाठकजी उसे बहुत पसन्द करते। सत्यनारायणजीकी 'ग्रीष्म-गरिमा' मैंने उन्हें सुनाई और उसे भी उन्होंने खूब पसन्द किया और बोले—'सत्यनारायणकी कविता जैसी उनके मुखसे अच्छी लगती थी, वैसी अन्य किसीके मुखसे नहीं।" पर सत्यनारायणजीके उपालम्भ उन्हें नापसन्द थे। वे कहते थे कि परमात्मासे बार-बार शिकायत करना ठीक नहीं—'भीरुभोग्या वसुन्धरा नही है।'

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसादजी पूर्ण, बालमुकुन्दजी गुप्त, जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी इत्यादिकी कुछ-न-कुछ चर्चा नित्य ही चला करती थी। पिछले दिनोंमे पाठकजी और द्विवेदीजीमे कुछ मतभेद-सा हो गया था। आपसका पत्रव्यवहार भी बहुत दिनोसे बन्द था। जहाँ

पाठकजीमें अनेक गुण थे, वहाँ उनके स्वभावमें कुछ त्रुटि भी थी। वे कुछ शकाशील थे, और सनककी मात्रा भी उनमें पाई जाती थी। सम्भवतः इसी कारणसे उनका अन्य सज्जनोंसे कभी-कभी मनमुटाव भी हो जाता था। एक बार बाबू बालमुकुन्द गुप्तने उनको एक अच्छी चिट्ठी लिखी थी, जिससे गुप्तजी तथा पाठकजी दोनोंके स्वभावपर प्रकाश पड़ता है। वह पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

The 'Bhaiat Mitra' Office 97 Mukhtaram Babus' St.
Established 1878 Calcutta, 26. 11. 1900
Telephone No. 137

पूज्यवर,

प्रणाम।

मेरी सालाना खाँसी मुझे फिर तंग कर रही है, इसीसे आपके १५ नवम्बरके कार्डका उत्तर झटपट न दे सका। इसके सिवाय उत्तरके देनेमें कुछ दुःख होता है, इससे भी देर की।

विना मूल्य और मूल्यकी कुछ बात नहीं है। वह सब आपकी इच्छापर ही है। आपने मूल्य भेजा था, हमने वापिस भी नहीं किया। सुनिये—आप पत्र (भारतमित्र) न पढेंगे, तो इसमें आपकी कुछ हानि नहीं है, परन्तु लाभ भी नही है। इसी प्रकार 'भारतमित्र' की हानि नही, पर लाभ भी नहीं, परन्तु बालमुकुन्द गुप्तकी हानि है, सो सुनिये—

मैं समझता हूँ कि आपमें एक उत्तम कविताशक्ति है, और वह ऐसी है कि जिससे आगेको हमारी कविताका कुछ भला हो सकता है। इसीसे पुत्तनलाल पटनेवाला जब आपकी कविताको अलकृत कर रहा था, तो मुझे उसकी ख़बर लेनी पडी, तथा आपको भी सूचना देनी पडी। उसका फल यह हुआ कि आपने कई एक कविताएँ अच्छी लिख डालीं, जिनमेंसे 'घन-विनय' एक विचित्र ही कविता है।

दुःख यही है कि बीच-ही-बीचमे लिखा-पढी आ पडी, उससे आपका जी मुझसे नाराज़ हो गया। उसीका यह फल है कि आप 'भारतमित्र' से नाता तोडते है। क्या ही अच्छा होता यदि आप केवल कविता लिखते और आलोचना करनेवालोंकी बातका बुरा-भला न मानते! आपको उत्तर देनेकी क्या जरूरत है, जब कि आपकी उत्तम कविता आपसे आप लोगोको मोहित कर लेती है?

आप कभी-कभी हूँचे जाते है कि आपको कविताका वह मूल्य नही, जो विलायत आदिमे अच्छे-अच्छे कवियोंकी कविताका है, परन्तु इस देशकी गिरी दशाको तो देखिये, कि कोई खाली भी आपसे कविता लिखनेको नही कहता। एक मैं ही हूँ कि आपसे कविता लिखनेका अनुरोध करता हूँ। आप निश्चय जानिये कि इसमे मेरा एक माशा भी स्वार्थ नहीं है। मै तो यही चाहता हूँ कि भगवान्ने आप जैसी तबियत का एक कवि उत्पन्न किया है, तो उसकी कविताका कुछ विकास भी हो, यो ही न कुम्हिला जावे। यदि आप कुछ लिख जावेंगे, तो दो सौ वर्ष बाद शायद आपके नामकी पूजा तक हो सकती है।

एक 'भारतमित्र'के नातेसे आपसे पत्र-व्यवहार चलता है। यह नाता आप तोडते है, भगवान् जाने अबकी टूटी फिर कब जुडे। कोई आठ साल बाद आपसे फिर पत्र-व्यवहार चला था, अब बन्द होकर न जाने कब खुले? मै नही जानता, कि अब आप पत्र-व्यवहार करेंगे या नही। इससे कुछ विनय करता हूँ।

(१) हर बातमे शकित और उदास मत हुआ कीजिए।
(२) कोई कुछ आलोचना करे, तो उसकी परवाह मत कीजिए।
(३) आलोचकोकी फिजूल बातोंके उत्तरकी जरूरत नही है।
(४) चित्तको हर मामलेमे प्रसन्न रखिए—बात-बातमे नाराज़ी और चिढ़ भली नही।

(५) आपका काम सुन्दर कविता बनाना है—छेड़-छाड़का उत्तर देना नहीं।

(६) दासों और मित्रोंपर विश्वास रखना।

(७) जब तक जीवन है, जीना पड़ेगा। सो प्रसन्नतासे जीना चाहिए। उदासी क्यों ?

दास
बालमुकुन्द गुप्त

द्विवेदीजीसे पाठकजीका पत्र-व्यवहार प्रायः अंग्रेजीमें हुआ करता था। शिमलासे ३०।८।०३ को लिखी हुई पाठकजीकी एक चिट्ठीका कुछ अंश सुन लीजिए—

Simla

My dear Dwivediji, 30-8-03

As I enter my 'Study' on return from a random stroll in the hills, my eye catches the sweet sight of a fresh post cover purporting to be from my Jhansi friend awaiting me. I tear it in pleasing haste and lo and behold ! I have digested its crisp contents in no time

Right welcome to your very sensible observation on the very 'sensitive' slip of paper used by me in writing my last epistle to you Sensitiveness seems to have taken wings from Simla to Jhansi and leaps from Jhansi to Simla The other half of the sheet which you so sensitively miss is however still adorning my pad to tell its own simple innocent tale. I give below extracts from its scribbled contents which may perhaps serve to cure

the contagion of sensitiveness in either of us, to some extent at least.

अर्थात्

शिमला

३०-८-०३

प्रिय द्विवेदीजी,

संयोगसे पहाड़ियोंमे घूमने चला गया था। लौटकर अपने अध्ययनके कमरेमें पैर रखते ही डाकसे ताजे आये एक लिफाफेका मधुर दृश्य मेरे नेत्रोंके सम्मुख उपस्थित हो जाता है, जो मेरे झाँसीके मित्रके यहाँसे आनेका भाव प्रकट करता हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। खुशीकी जल्दीमें मै उसे फाड़ता हूँ और यह देखिये! मैंने तुरन्त ही उस मनोहर पत्रको हृदयगम कर लिया।

स्वागत है आपके बुद्धिमत्तापूर्ण उद्‌गारोंका जो आपने बहुत कोमल कागजके टुकड़ेपर प्रकट किये थे, जिसे मै अपना पिछला पत्र लिखते समय काममें लाया था। मालूम होता है कोमलता शिमलासे झाँसी उड गई है और झाँसीसे शिमलाकी ओर फुदक रही है। उस कागजका दूसरा अर्धभाग, जिसकी अनुपस्थिति आपको इतनी कोमलताके साथ खल रही है, अभी अपनी सरल और भोली-भाली कहानी सुनानेके लिए मेरे पैडकी शोभा बढा रहा है। इसके घसीटे हुए वाक्योंसे उद्धरण नीचे दे रहा हूँ। वे कदाचित् हम दोनोंको लगी कोमलताकी छूतको दूर करनेमें कारगर हो सकते है, किसी हद तक ही सही।

इसके बाद पाठकजीने अपनी एक अग्रेजी कविताका एक अंश उद्‌धृत किया था—

"Would I here on these old Himadri's peaks
Where to the groaning winds stern thunder speaks;

And Heaven's orbs are longest lost in gloom
And nothing reigns but vapour, blast and bloom.
There on some cloud clad cliff or cosy crest
Could I find calm and contemplative rest"—

× × ×

अन्तिम पक्तियाँ ये थी—

"Trust this stray scrip you'll dearly care to keep
For future sight with feelings true and deep.
Here in frail Fancy frisks in raptures free
And poetry seems gone on drunken spree
Dear, as I pen this, Heaven speaks & pours !
Ev'n as close this, Ever sincere yours

Yours very sensitively."

राय देवीप्रसादजीका जिक्र करते हुए पाठकजीने कहा—"हम दोनोमे छन्दशास्त्रके अध्ययनकी आवश्यकताके विषयपर बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ था। मेरा यह पक्ष था कि कविके लिए यह आवश्यक नही है कि वह छन्दशास्त्रके विस्तृत नियमोको पढ़े। कविता पहले आती है, छन्दशास्त्र पीछे। रायसाहबका मत मेरे विरुद्ध था, और हम दोनोमे काफ़ी गरम बहस हुई थी।"

पाठकजी बाबू बालमुकुन्द गुप्तजीके हँसोड स्वभावकी प्रशंसा करते थे। वे कहते थे—"एक बार गुप्तजीने पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीको एक पत्र भेजा था, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार था—

"जगन्नाथ चौपाया,
पत्र आपका आया मन भाया। इत्यादि।"

पाठकजीको पूरा पद्य याद नहीं था। स्वर्गीय प० बालकृष्ण भट्टका भी जिक्र पाठकजी बड़े प्रेम और श्रद्धापूर्वक करते थे। भट्टजीका और उनका सम्बन्ध कितना घनिष्ठ था, यह बात पाठकजीने अपनी 'गोपिका-गीत' नामक पुस्तककी 'समुपस्थिति' मे लिखी थी—

"स्वर्गीय भट्टजी!

हम आपके ससर्गसे आपके साथ इतने ढीठ हो गये थे कि जब आपसे मिलते थे, 'प्रोनाम, भट्टो जि', 'का हो भड्जी?' आदि अनेक विनोदात्मक सम्बोधनोंसे आपका अभिनन्दन करते थे, और आप आर्शीर्वाद देते थे—'तुमरे मूडै आग लगै, निबहुरियऊ!' (मेरी समझमे इसका भाव—यह है कि 'जन्म-मरणादि भव-बन्धनसे विमुक्त हो', और यह स्निग्ध सलाप हमें इतना प्रिय था कि हम उसके पुन. पुनरभिनय-निमित्त आपके निकट दौड-दौडके पहुँचते थे। आपके सत्संग-प्रसूत इस प्रकारके अगणित वाग्विनोद इन कानोंके गहन-गह्वरोंमे पुन.-पुनः प्रतिध्वनित होते रहते हैं।"

पाठकजीका पत्र-व्यवहार हिन्दीके अनेक प्रसिद्ध लेखको तथा कवियोसे रहा था और उसका कुछ अश उन्होने सुरक्षित भी रखा था। सुप्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी अग्रेज फ्रेडरिक पिंकाट साहबकी अनेक चिट्ठियाँ उनके पास थीं। १० मई सन् १८८८ के पत्रमे मि० पिंकाटने पाठकजीको उनकी 'एकान्तवासी योगी' नामक पुस्तकके विषयमे लिखा था—

"I have already expressed to Lala Ayodhya Prasad and I now repeat to you that in my opinion your translation is a triumph of skill. it is rare even in prose, that so faithful a rendering is seen, in the case of languages so widely different as English and Hindi, but in verse such close adherence to an

original while preserving fluency and poetic sweetness, is exceedingly rare indeed. Your verses, I trust, will direct the Indian mind to the beauties of nature and to the tender feelings of the heart. Extravagance of language and artificiality of sentiment characterize and disfigure Oriental verse, but such excellent verses as yours will draw the hearts of your people to the satisfying joys of simplicity and devoted affection"

अर्थात्

"मै लाला अयोध्याप्रसादके सम्मुख अपना विचार प्रकट कर चुका हूँ और उसीको अब आपको दुहरा रहा हूँ कि मेरे विचारमे आपके अनुवादोमे उच्चकोटिका कौशल है। अंग्रेजी और हिन्दी-जैसी विस्तृत विभेद रखनेवाली भाषाओमे गद्यमे भी ऐसे स्वाभाविक अनुवाद कदाचित् ही देखनेमे आते हैं, किन्तु पद्यमे प्रवाह और काव्यमाधुर्यकी सुरक्षा करते हुए मौलिक वस्तुका ऐसा अन्तस्पर्श तो यथार्थमे दुर्लभ है। मुझे विश्वास है, कि आपके पद्य भारतीय मस्तिष्कको प्राकृतिक सौन्दर्य और हृदयकी कोमल सवेदनाओंकी ओर प्रेरित करेंगे। शब्दाडम्बर तथा कृत्रिम भावुकता प्राच्य पद्यके विशिष्ट लक्षणमे आकर उसके सौन्दर्यको बिगाड देती है, किन्तु ऐसे उत्कृष्ट पद्य, जैसे आपके है, आपके देशकी जनताके हृदयको सरल भावव्यजना और आत्मोत्सर्गपूर्ण स्नेहके आनन्दका अनुभव करायेगे।"

प्रोफेसर जे० एफ० निकल साहबने (Mr. J. F. Nicholl, M. A. Professor Balliol College, Oxford) मि० पिकाटको पाठकजीके 'ऊजड गाम'के विषयमे जो हिन्दी पत्र भेजा था, वह ज्यो-का-त्यो उद्धृत करने लायक है—

"श्रीयुक्त पिकोट साहेब समीपेषु !

प्रणामानन्तर प्रकाश करता हूँ कि आज साँझके समय आपका कृपा-पत्र पहुँचा। उसीके साथ आपने एक पोथी भेजी है। इससे मै समझ सकता हूँ कि अन्य देशीय विद्यानुरागी भी इग्रेज़ी कवियोको कैसा प्रिय जानते हैं। पडितजीने अपनी पोथीका नाम 'ऊजड गाम' रखा। परन्तु निश्चय यह है कि लिखते समय उनका मन मक्खीके समान अपने मधुमे ऐसा लिपट गया कि अक्षरोंका विन्यास भूल गये। उसका नाम "जड़ाऊ मग" रखना चाहिए, क्योकि उस पोथीकी बाटे मणिमाणिक्यसे जडित होती है। बस, वाटकी बात चलाते ही क्या देखता हूँ एक वाटिका फूलती है। उस वाटिकाकी दोनो ओरकी क्यारियोकी शोभा देखता हुआ चला जाता हूँ। मक्खीके समान एक फूलसे दूसरे फूलपर बैठता उसका रस लेता हूँ। उसी वाटिकाके वृक्ष अमृतफलसे लदे हैं, केवल मुख खोलनेका कष्ट है, फल आपसे आप मुखमें चले आते हैं। ईश्वरकी शक्ति कैसी है। जो मै शेषनागकी जीभोसे युक्त होता तो उस बाग़ेइरमकी वर्णना कर न सकता।"

ग्रन्थकारने पूर्व जन्ममे पुण्य सञ्चय किया होगा, नहीं तो वह ऐसी सिद्धिप्राप्त न होता कि उसके द्वारा इस 'ऊजड़ गाम'को पुण्यफल (लक्ष्मीके उद्यानका नाम) कर दिया है। कविका वचन प्रामाणिक है।

हरूफ़श चु ज़ुल्फ़े बुताने चुगल
हमा जाय जानस्तो मावाय दिल
मुआनीश दर ज़ेर हरफ़े सियाह
दरख़्शंदा चूँ मेहरो रोशन चुमाह

ईश्वरकी कृपासे पडितजीने एक मित्र पाया है। आपकी कृपासे उनकी चौपत्री मिली है। धन्य हमारे भाग्य !

२१ टोरनेफेल्ड रोड, आपका परम मित्र
१ मार्च १८६० ईस्वी जे० एफ० निकल

पुनश्चः—शीघ्र लिखता हूँ। भूल चूक क्षमा कीजिए।"

साहित्य-गोष्ठी

साहित्य-गोष्ठीके विषयमें भी पाठकजीने कई बार कहा। उनका विचार यह था कि प्रत्येक मासमें कही प्रकृतिकी गोदमें वृक्षोंके नीचे अथवा नदीतटपर साहित्यिक सज्जन इकट्ठे हुआ करें। प्रत्येक व्यक्ति अपना भोजन भी वहाँ साथ लेता जाय, और वहाँ साहित्य-सम्बन्धी चर्चा हुआ करे। इस गोष्ठीमें कोई अश्लील बात न कही जाय और न ग्राम्य भाषाका प्रयोग हो। जो महाशय व्याकरणकी अथवा अन्य प्रकारकी भूल करें, उनपर प्रत्येक भूलके लिए एक पैसा जुर्माना किया जाय। इससे अपनी भाषा इस प्रकार बोलनेका अभ्यास हो जायगा कि यदि उसे ज्यों-का-त्यों लिख दिया जाय, तो हर प्रकार शुद्ध भाषा हो। इस गोष्ठीमें बडे-बड़े भाषण न दिये जायें। इस प्रकारके सम्मेलनोंसे पारस्परिक प्रेमका सचार होगा। पाठकजी कहते थे —

"This will certainly raise the tone of Hindi-speaking. इस समय आप हिन्दीके साहित्य-सेवियोंको बिठला दीजिए, सब अपनी-अपनी खिचडी अलग पकावेंगे।" पाठकजीने यह भी कहा था कि इस प्रकारकी गोष्ठी दो बार पद्मकोटमें हुई भी थी। सोलह-सत्रह दिनोंके भीतर पाठकजीसे जो बातें हुई थीं, उन सबका जिक्र स्थानाभावसे यहाँ नहीं किया जा सकता। चलते समय मैंने उनसे कहा कि मेरी नोट-बुकमें अपनी कुछ कविताएँ लिख दीजिए, दो-चार तो अपनी पसन्दकी

और दो-चार मेरी पसन्दकी। उन्होंने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया। ये कविताएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

प्राण पियारेकी गुण-गाथा साधु कहाँ तक मै गाऊँ
गाते-गाते चुकै नही वह चाहे मै ही चुक जाऊँ
विश्वनिकाई विधिने उसमें की एकत्र बटोर
बलिहारौ त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर

—एकान्तवासी योगी

यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर
यहिं अमरन कौ ओक यही कहुँ बसत पुरन्दर

—काश्मीर सुखमा

समझके सारे जगतको मिट्टी, मिट्टी जोकि रमाता है
मिट्टी करके सर्वस अपना मिट्टीमे मिल जाता है
जो तन मनसे करता है श्रम उचित रीतिसे चलता है
सारी वसुधाका क्रमक्रमसे सर्वस उसको मिलता है

—जगत सचाईका सार

(पाठकजीके जीवनका मूल-मत्र यही पक्तियाँ थीं।)

हे घन ! किन देसन मॅह छाए बरसा बीति गई
फिरहु कहाँ भरमाए, का यह रीति नई ?

—घन-विनय

लसत लहलही जहाँ सघन सुन्दर हरियाई
तहँ अब ऊसरमई भई नसि गई निकाई

(ऊजड़ ग्राम)

भारतमें वन ! पावन तू ही;
तपस्वियोका तप-आश्रम था

जग-तत्वकी खोजमें लग्न जहाँ,
ऋषियोने अभग्न किया श्रम था
जब प्राकृत विश्वका विभ्रम और था,
सात्त्विक जीवनका क्रम था
महिमा वनवासकी थी तब और,
प्रभाव पवित्र अनूपम था

(वनाष्टक)

नमो-नमो गिरितनया, अद्भुत वारि
सुरधुनि भारत-प्रनया, अघ तरवारि
नमो ब्रह्म-द्रव-रूपिनि, प्रेम-फुहार
तरल तरग अनूपिनि, गग-सुधार
तारिनि सगर सुअनवा, स्वर्ग-नसैनि
बसहु सदा मो मनवा, सर्वसु-दैनि

× × ×

त्यो रहे जुक्त-प्रदेसवा-बहु नरनारि
बहु-स्वभाव, बहु-भेसवा, बहु-अनुहारि
इन महँ कोउ सदगुनवा मोहि न दिखाय
यहि सन करन बखनवा मन अनखाय

(देहरादून यात्रा)

अस्वस्थ रहते हुए भी पाठकजीने मेरे लिए जो कष्ट सहा, जैसा प्रेम-पूर्ण व्यवहार किया, जोंधरी और 'पिरोजाबाद' का सम्बन्ध जिस प्रकार निबाहा, उसका स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है। पाठकजीके सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर पाठकने भी जिस स्नेहपूर्ण बन्धुत्वका परिचय दिया, उसकी जितनी प्रशसा की जाय, थोड़ी होगी। उनके सहयोगसे

पद्मकोटके १६–१७ दिन बड़े आनन्दसे और बड़ी जल्दी व्यतीत हो गये। चलते समय मैंने पाठकजीके चरण छुए। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और कहा—"पद्मकोट कौ जोधरी समझिकें मन आवै तब चले आइवौ करौ।" खेद है कि पाठकजीके बाद पद्मकोट मेरे लिए 'जोधरी' के बजाय 'प्रयाग' या या कहिये 'इलाहाबाद' बन गया! अधिक क्या लिखूँ, इन सस्मरणोंको पाठकजीकी ही एक प्रेमपूर्ण चिट्ठीसे समाप्त करता हूँ—

श्रीप्रयाग
३०–६–२७

प्रियवर,

भौत दिनते दरसन परसन नाय भये! अब तो पिरोजाबाद ई रैतऔ? ऐमदाबादु च्यों छोड़िदयौ? इतमाऊँ हूँ कबऊँ आइबौ होगौ?

कबऊँ कबऊँ तो चिट्ठी डारि दैबौ करो? उतमाऊँ ऋतु तो अच्छी होइगी—मोंदिगी तौ नाय फैली? अबकें पिरागमें पानी अच्छी तरै नाय बरसौ—

दसैरा मुआँ कैसौ है रहौ है? जल्दी लिखियौ—

श्री० पा०

वर्षोंसे मेरा विचार स्वर्गीय पाठकजीका एक जीवन-चरित लिखनेका था। इसी उद्देश्यसे दो सप्ताहसे अधिक उनकी सेवामें रहा था। आज इस बातको ११ वर्ष बीत गये, पाठकजीका स्वर्गवास हुए भी दो वर्षसे अधिक हो गये; पर जीवन-चरित नहीं लिखा गया! क्यों? बस, यह मुझसे न पूछिये। मुझे लिखते हुए दुःख होगा, आपको पढ़ते हुए खेद।

अगस्त १६३१

मेरी तीर्थ-यात्रा

शंकरजी, गोस्वामीजी और द्विवेदीजी, इन तीन वयोवृद्ध साहित्य-सेवियोंकी सेवामे पहुँचकर उनके दर्शन करने तथा आशीर्वाद ग्रहण करनेकी इच्छा बहुत दिनोसे थी। पर वह सन् १९२४ के दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताह तथा जनवरी १९२५ के प्रथम सप्ताहमे जाकर पूर्ण हुई। उस साल लिबरल-फेडरेशनका जलसा लखनऊमे हुआ था, वहाँ मुझे पूर्व अफ्रिकाके मामलेमे जाना पडा। वहाँसे द्विवेदीजीका स्थान कुछ निकट पडता था। इसलिए यात्राका क्रम यही निश्चित किया गया कि पहले दौलतपुर चला जाय, फिर हरदुआगज और तत्पश्चात् वृन्दावन। दौलतपुरके लिए कानपुरके निकट विन्दकीरोड स्टेशनपर उतरना पडता है। वहाँसे वह करीब दस मीलपर है। रास्ता बडा ऊबड-खाबड है। बैलगाडीके सिवाय गगाकी कछारोंमे और किसी सवारीका गुजर नही। इक्का जा नहीं सकता। झटके इतने अधिक लगते है कि अगर आदमी सावधानीसे न बैठे और झटकेका मौका आनेपर हर बार सम्हल न जावे, तो उसकी कमर टूटनेकी नौबत आ सकती है। फिर भी इस यात्रामे बडा आनन्द आया। लकीरकी फकीर रेलगाडीमे सुगम रीतिसे सफर करते हुए यदि किसीकी तबियत ऊब गई हो और प्राचीन कालकी यात्रा-विधिका अनुभव करनेकी इच्छा मनमे हो, तो उसे द्विवेदीजीके दौलतपुरकी यात्रा करनी चाहिए।

•

बिन्दकी रोडसे सबेरेका चला हुआ दौलतपुर शामको पहुँचा। बीचमे गगाजीको पार करनेके लिए नावका भी इन्तजार करना पडा, इसलिए और भी देर हो गई। द्विवेदीजीसे मिलनेका सौभाग्य एक बार

जुही कानपुरमे मिला था, पर थोडी देरके लिए, और तब विशेष बात-चीत भी न हो सकी थी। अबकी बार कई घटे तक बातचीत हुई। समा-चार-पत्रोंके वाद-विवाद पढकर द्विवेदीजीके विषयमे मैने अपने मनमे अनेक धारणाएँ बना ली थी, जो भ्रमपूर्ण सिद्ध हुईं। जिन्होने उनकी केवल कठोर आलोचनाएँ ही पढी है, वे इस बातका अनुमान ही नही कर सकते कि द्विवेदीजीके हृदयमे इतनी कोमलता भी होगी। मैने भी यही समझ रखा था कि द्विवेदीजी बडे कठोरहृदय तथा द्वेषी स्वभावके आदमी है। फिर भी मैने दौलतपुर जाना इसलिए उचित समझा था कि उनकी चालीस वर्षकी साहित्य-सेवाके लिए मेरे हृदयमे अत्यन्त श्रद्धा थी, और वह श्रद्धा ही मेरी इस यात्राकी प्रेरक थी, छिद्रान्वेषण नही। द्विवेदीजीका आतिथ्य और उनका नम्र स्वभाव देखकर मुझे अपनी सम्मति बिलकुल बदल देनी पडी। माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीके विषयमे बाम्बे क्रानिकल तथा मद्रासी 'हिन्दू' आदि पत्रोंके लेख देखकर मुझे बडा धोखा हो गया था और इसी प्रकारका धोखा पूज्य द्विवेदीजीके विषयमे भी था। इस यात्रासे यह बात मेरी समझमें आ गई कि जो लोग अखबारी झगडोसे आदमीके स्वभावका अनुमान करते है और किसीके विषयमे भली-बुरी सम्मति बना लेते है, वे वास्तवमे बडी भूल करते है। सोनेके पहले द्विवेदीजीसे तीन-चार घटे जो बातचीत हुई, दूसरे दिन प्रातःकाल चार बजे उठकर मैने उसके नोट अपनी नोटबुकमे लिख लिये थे और आज उन्हींके आधारपर लिख रहा हूँ।

सबसे अधिक आकर्षित किया मुझे द्विवेदीजीकी नियमबद्धता, किफा-यतशारी और स्वाभिमानशीलताने। जो नवयुवक साहित्यसेवी आत्म-गौरवके साथ जिन्दगी बसर करना चाहते हो, वे द्विवेदीजीसे अनेक बाते सीख सकते है। यह बात बहुतसे पाठकोंको न मालूम होगी कि द्विवेदीजीने २०० रु० मासिककी नौकरी छोडकर २३ रु० की नौकरी की थी। रेलके

ट्रैफिक विभागमे १५० रु० के नौकर थे और ५० रु० भत्तेके मिलते थे। नौकरी भी ऐसी-वैसी नही थी। हजारो प्रार्थना-पत्रोका फ़ैसला द्विवेदीजीके हाथोसे होता था। यदि द्विवेदीजी चाहते तो कई लाख रुपये रिश्वतमे कमा सकते थे। रेलपर जो माल भेजा जाता था, उसकी दरमे पैसे दो पैसेके फ़र्कसे भी व्यापारियोको लाखोका नफा-नुकसान हो सकता था, और ये व्यापारी बडी खुशीसे द्विवेदीजीको सहस्रो रुपये रिश्वतमे दे देते, पर द्विवेदीजीने अपनी ईमानदारीकी कौडीको लख-पतियोके रुपयोंसे अधिक मूल्यवान् समझा।

द्विवेदीजीका नौकरी छोडनेका भी एक किस्सा है। एक गोरे साहब बहादुर द्विवेदीजीसे ट्रेनिंग पाकर अफ़सर बने थे। फिर उन्होंने द्विवेदीजीपर रौब गॉठना शुरू किया और उनके साथ असज्जनताका व्यवहार किया। बस इसी पर नाराज होकर द्विवेदीजीने २०० रु० की नौकरीपर लात मार दी। लोगोंने बहुत समझाया, स्वय वह अफसर भी अपने कियेपर पश्चात्ताप करता था। बड़े-बडे अफसरोंको, जो द्विवेदीजीकी घोर परिश्रमशीलतासे परिचित थे, रज हुआ। वे इस बातको अनुभव कर रहे थे कि एक अत्यन्त कर्तव्यशील आदमी हमारे हाथसे जा रहा है। इसलिए उन्होने भी इस बातकी कोशिश की कि किसी तरह द्विवेदीजी रह जायॅ, पर उन्होने एक बार जो निश्चय कर लिया, सो कर लिया।

पूज्य द्विवेदीजीकी धर्मपत्नीको इस बातसे खेद हुआ, पर वह दो-एक दिनसे अधिक नही रहा। उन्होने बडे सन्तोषपूर्वक यही कहा—अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे, तो मै उसीमे सन्तोष कर लूॅगी, और उन्होने अपने वचनका अक्षरशः पालन किया। अनेक अशिक्षिता स्त्रियॉ अपने पतिके त्याग तथा तपके मार्गपर जानेमे अत्यन्त बाधक होती है। यदि द्विवेदीजीको ही किसी ऐसी स्त्रीसे पाला

पड जाता तो हमारा विश्वास है कि जितनी साहित्य-सेवा उन्होंने की, उसकी चौथाई भी न कर पाते। द्विवेदीजी अपनी स्त्रीको कितनी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे, उसका परिचय केवल इसी बातसे मिल सकता था कि उन्होंने उनकी मृत्युके बाद एक छोटा-सा मन्दिर उनकी स्मृतिमे बनवाया, और उसमे लक्ष्मी तथा सरस्वतीकी मूर्तियोंके बीचमे उनकी एक सगमर-मरकी मूर्ति स्थापित की। मन्दिरकी बनावटसे द्विवेदीजीकी सुरुचिका पता लगता है। मन्दिरपर लिखा हुआ है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' इति मनु·
'स्त्रियस्समस्ता· सकला जगत्सु' इति व्यासः

साथ ही उसमे एक सस्कृत कविता भी है, जो स्वय द्विवेदीजीकी बनाई हुई है। वह यहाँ उद्धृत की जाती है।

नवषण्णवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे।
शुक्रकृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगविपीडिता।
जह्नुजायाः जले प्राप पञ्चत्वं या पतिव्रता॥
निर्म्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्या· स्मृतिमन्दिरम्।
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना॥
पत्युर्गृहे यतः साऽऽसीत् साक्षाच्छ्रीरिव रूपिणी।
पत्याप्येकाऽऽदृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता॥

इसके बाद लक्ष्मी तथा सरस्वतीकी प्रशसामें दो श्लोक हैं और उन दोनोंकी मूर्तियोंके बीचमें पूज्य द्विवेदीजीकी धर्मपत्नीकी मूर्ति है।

एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात्॥

"पत्याप्येकादृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता" अर्थात् पतिने एक तो सरस्वतीका आदर किया और दूसरे उस पतिव्रताका, यह पद्य वास्तवमें

महत्त्वपूर्ण है। इसमे सन्देह नही कि जिस लगन तथा धुनके साथ द्विवेदी-जीने सरस्वती देवीकी सेवा की है, वह वर्तमान हिन्दी-साहित्यके इतिहासमे सचमुच एक आदरणीय और अनुकरणीय वस्तु है। रेल-तारकी नौकरी करते हुए सस्कृतका अध्ययन करना कोई आसान काम नही था। जब आप झाँसीमे थे तो नित्य-प्रति चार बजे उठते थे। चारसे छः तक काम करते, फिर नित्यकर्मसे निवृत्त होकर सस्कृत पढते थे। द्विवेदीजीकी परि-श्रमशीलताका यह हिसाब था कि ६ महीने आगेके सरस्वतीके अंकोका मसाला बराबर अपने पास जमा रखते थे। अगर बीमार पड जायें तो ६ महीने तक इडियन प्रेसवालोको किसी दूसरे आदमीके रखनेकी जरूरत न पडे। अठारह वर्ष सेवा करनेके बाद जब द्विवेदीजी अपने कार्यसे अलग हुए तो उन्होने बख्शीजीको जो लेख सौपे थे, उनमे कई ऐसे थे, जो स्वय बाबू श्यामसुन्दरदासजीने चार्ज देते समय उन्हे दिये थे।

द्विवेदीजीकी किफायतशारीका हाल यह है कि जो कपडे वे पहने हुए थे, कम-से-कम पाँच वर्ष पुराने थे, पर वे बड़े ढगके साथ रखे गये थे। कम्बल या दरी इत्यादिमे एक कपडा तो शायद बीस-पच्चीस वर्ष पहलेका था। आज हम लोग द्विवेदीजीकी इस बातपर कि उन्होंने अपनी गाढी कमाईके छः हजार रुपये छात्रवृत्तियोंके लिए हिन्दू-विश्वविद्यालयको दे दिये, उनकी प्रशसा करते है, पर हममेसे कितने आदमी इस बातको जानते है कि इन छः हजार रुपयोंको बचानेमे द्विवेदीजीको कितना संयम करना पडा होगा। जब द्विवेदीजीकी मासिक आमदनी दो सौ रुपयेसे तेईस-चौबीस रुपये रह गई, तब भी वे इन रुपयोमेसे तीन-चार रुपये दान पुण्यके लिए निकाल लेते थे। जो साहित्यसेवी वृद्धावस्थामे सम्मान तथा स्वाभि-मानके साथ रहना चाहे, उसको द्विवेदीजीकी किफायतशारीसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। बड़े-से-बडे धनाढ्य आदमियोकी कृपाकी परवाह द्विवेदीजीने नहीं की। वे सदा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करते रहे

है। इसका मुख्य कारण यही है कि वे जीवनभर बडी किफायतशारीसे चलते रहे है। जिस दिन शामको मै दौलतपुर गया था, उस दिन द्विवेदीजीके साथ खेतपर टहलने जानेका मौका भी मिला। उनके खेतके बबूलोके झॉकरोके गट्ठे वहॉ पडे हुए थे। गिनतीमे वे १६ थे। द्विवेदीजीने उनको गिना। एक किसानसे उन्होने कहा कि तुम्हारे खेतमें इतना अनाज पैदा हुआ और हमारेमे उससे आधा भी नही हुआ, इसका क्या सबब है? द्विवेदीजी पैसे-पैसेका हिसाब रखनेवाले आदमी है। कहा जाता है कि जब महात्माजी दक्षिण अफ्रिकासे डेपूटेशनमे विलायत गये थे तो उन्होने अगर दो पैसेकी मूँगफली ली, तो उसका भी हिसाब रखा था। इसी तरह द्विवेदीजी भी सरस्वतीके पोस्टेजके पैसे-पैसेके कार्डका हिसाब रखते थे।

द्विवेदीजी प्रबन्ध करनेवाले भी अद्भुत है। उनकी नियमबद्धता और प्रबन्धशक्ति अनुकरणीय है। तेलका भरा हुआ दीपक अलग रखा हुआ था। मोमबत्ती भी थी और लालटेन भी टॅगी हुई थी। दियासलाइयॉ ठिकाने सिर रखी हुई थी। कोतल बिस्तर भी टॅगे हुए थे। कोतल शब्दका अर्थ रिजर्व होता है, यह मुझे द्विवेदीजीसे ही मालूम हुआ। पुराने जमानेमे जब रेल वगैरा नही थी, तब यात्रा इत्यादिके लिए मार्गमे स्थान-स्थानपर कोतल घोडे रखे जाते थे। पहले घोडे जब थक जाते तब ये कोतल घोडे काममे आते थे।

अनेक साहित्य-सेवियोके विषयमे द्विवेदीजीसे बातचीत हुई। शकरजी, प० श्रीधरपाठक, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्दजी, हरिभाऊ उपाध्याय इत्यादिका जिक्र आया। उन सब बातोका विवरण स्थानाभावसे यहॉ नही दिया जा सकता। शकरजीकी कविताकी उन्होंने बडी प्रशंसा की और माखनलालजीके विषयमे कहा कि अच्छे कवि है।

द्विवेदीजी महात्मा गान्धीजीके बडे भक्त है। मिश्रकी कपासका एक पौधा भी उन्होंने अपने घर लगा रखा है। जिन दिनो महात्माजी दिल्लीमें

उपवास कर रहे थे और समाचारपत्रोमें उनकी हालतके वृत्तान्त छपते थे, द्विवेदीजी उन समाचारपत्रोंको बडी चिन्ताके साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी हालत नाजुक है उस रातको द्विवेदीजी दूध नही पी सके। दूधपर ही उन दिनो वे रहते थे, और बहुत रोये भी। भारत-सेवक-समितिके ईसाई सदस्य मि० ऐण्ड्रूज दुबेका परिचय महात्माजीसे करानेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैने जब महात्माजीके सहृदयतापूर्ण बर्तावका वृत्तान्त द्विवेदीजीको सुनाया, तो उनके नेत्रोमे आँसू आ गये और चश्मा उतारकर उन्होने वे आँसू पोछे।

द्विवेदीजीमे विद्वत्ताके साथ सहृदयता भी है, और उनकी कठोर लेखनीके भीतर कोमल हृदय भी छिपा हुआ है, यह बात मुझे अब तक ज्ञात नही थी पर जहाँ मैने द्विवेदीजीके सद्‌गुणोकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्पित किया है, वहाँ साथ ही साथ उनके एक दोषका भी जिक्र कर देना आवश्यक हे। द्विवेदीजीने बेजा परिश्रम करके अपने स्वास्थ्यको बिलकुल नष्ट कर लिया। प्रकृति अपने नियमोकी अवहेलनाको सहन नही कर सकती। जो ऐसा करता है दड पाता है। द्विवेदीजीके बेहद मानसिक परिश्रमका परिणाम यह हुआ कि अब कोई स्थायी मानसिक कार्य उनके लिए असम्भव हो गया है। द्विवेदीजीका स्वास्थ्य पहले बहुत अच्छा था। एक बार तो आप रातमे चालीस मील पैदल चले गये थे। अत्यधिक मानसिक परिश्रमने अब यह दुर्दशा कर दी है कि बिन्दकीरोडपर बेहोश हो गये और ८ घटे योंही पड़े रहे। बीचमे द्विवेदीजीका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया था कि कुल ३१ सेरके रह गये थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मृत्यु निकट ही है, पर लुईकोनीकी जल-चिकित्साके कारण आपकी जान बची, लेकिन इसके लिए तीन वर्ष तक आपको अत्यन्त सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना पडा था। अब द्विवेदीजीके लिए लेख लिखना भी कठिन है। फिर भी लेखोके लिए सम्पादकोकी चिट्ठियाँ उनके पास बराबर पहुँचा

करती है। काशीके 'राम' नामक पत्रके सम्पादकने जब आपको लेख भेजनेके लिए बहुत तग किया, तो आपने उन्हे यह श्लोक लिख भेजा—

अनेकाधिव्याधिव्यथितहृदय दीनवदनं
विहीन पुत्रादिस्वजनसमुदायेन जगति ।
अतित्रस्तं ग्रस्त हतविधिविलासै· सपदि मां
शरण्य श्रीराम त्रिभुवनपते पाहि दयया ॥

यह श्लोक द्विवेदीजीकी वर्तमान स्थितिको भलीभाँति प्रकट करता है। दूसरे दिन प्रातःकाल मै दौलतपुरसे घरके लिए रवाना हुआ। जब उन्हे मालूम हुआ कि मै हरदुआगज भी जाऊँगा तो उन्होने कहा कि शकरजीसे हमारा शतबार नमस्ते कहिये। "चिरजीवी भूयाः। सौ वर्ष तक जीवित रहो, खूब सग्रह करो और लिखो" यह, आशीर्वाद पाकर मैं बिन्दकी गेड स्टेशनके लिए चल पडा। मना करनेपर भी ग्रामके बाहर तक पहुँचानेके लिए द्विवेदीजीने कष्ट किया !

हरदुआगंज

२ जनवरी सन् १९२५ को मै अपने छोटे भाईके साथ शंकरजीकी सेवामे हरदुआगज पहुँचा। अभी थोडी देर ही हुई थी कि शकरजीने एक कागज तुरन्त ही लिखकर दिया।

"ओ३म्
षटपदी छन्द

बुध बनारसीदास चतुर्वेदी चल घरसे,
प्रेम पसार सबन्धु मिले आकर शकरसे
तरुण वृद्धका योग, मिली यों गरमी सरदी
सरस अनुष्णाशीत शक्ति समतामें भर दी
कर दूर दुरंगी द्वैतकी अटल एकता हो गई
हरिशंकरके भी पास जो, उमग आगराको गई।

शकर रविवार २, १, १९२५"

१ अक्टूबर १६२४ को शकरजीके ज्येष्ठ पुत्र उमाशकरजीका स्वर्गवास हो चुका था, अतएव उन दिनो वे बडे ही दुखित थे। जो लोग प्रेममूर्ति शकरजीके स्वभावको जानते है, वे इस बातका कुछ अनुमान कर सकते है कि इस वज्रपातसे उन्हे कितनी मानसिक वेदना हुई होगी। रह-रहके यह अनन्त दुख उनके हृदयको पीडित करता था। शकरजीकी नोटबुक इस दुखसे भरी पडी है। उन्ही दिनो श्री रामनरेशजी त्रिपाठीने "मनकी" समस्या आपके पास भेजी थी। उसकी पूर्तिमे भी आपकी यह वेदना इस रूपमे छलक पडी।

देवी शंकराने देवलोकमे निवास पाया,
पीर पतिकी-सी न सहारी बूढेपनकी।
शारदा कुमारी बूढी दादीके समीप गई,
माँसे महाविद्या मिली राख त्याग तनकी॥
माता सुता भगिनीकी ओर उमाशंकरने,
कूच किया ओढकर चादर कफनकी।
हाय शोक मूसलसे कालने कुचल डाली,
कोमल कवित्व-शक्ति शंकरके मनकी॥

दोहा

क्या सूझै कवि कौमुदी, हे बुध रामनरेश।
हा शकरको हो गया अन्धकारमय देश॥

शंकर शोक

बूढी सती शंकरा बिसार सेवा शंकरकी
त्याग तन स्वर्गको भलाई ले भली गई।
जीवन बिताया बिन ब्याही पोती शारदाने
शोक स्याही धीरताके मुखमे मली गई।

बेटी महाविद्या परिवार और पीहरको,
छोड मरी दुःख दाल छातीपै दली गई ।
हाय निज माता सुता भगिनीके पास प्यारे
पुत्र उमाशंकरकी चेतना चली गई ॥

शंकरजीके यहाँ दो दिन रहनेका अवसर मिला । इस बीचमे उनके बहुतसे संस्मरण सुननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ । शंकरजीने अपनी बाल्यावस्थामे एक दोहा रामजी नामक एक वैश्यके लिए जो बडा लोभी था और अपनी माँको बहुत तंग किया करता था, लिखा था । वह यह था—

अरे यार सुन रामजी लोभी तेरी जात ।
नैक नैकसे दूध पै पकरै माँको हात ॥

शायद यही आपकी प्रथम रचना है ।

एक बार हरदुआगंजमे एक मुशायरा होनेवाला था । शंकरजी उस समय बालक थे । एक मौलवी साहबसे उर्दू पढते थे । आपको एक दिल्लगी सूझी । एक क्लीट काव्य बनाकर आप अलीगढ गये, और उसे अरबी हरफामे किसी दूसरे मौलवीसे लिखा लाये । मुशायरेमे आपने अपनी वह गजल भी पेश की । उसे कोई पढ ही नही सका ! आखिर आपके उस्ताद मौलवीने कहा "भई तुम्ही पढो यह तो पढी ही नही जाती, क्या लिख लाये हो ।" आपने पढना शुरू किया ।

जमुन गर्बारो सकौफ़ा कज्जुल, इधर हमारे उधर तुम्हारे
तुफले तर्कीजा खिजरे बतन्नुल, इधर हमारे उधर तुम्हारे
गजरबे जाफ़िर क़तले बजरूल, इधर हमारे उधर तुम्हारे ।

इसी प्रकारकी बहुत-सी पंक्तियाँ थीं । श्रोतागण चक्करमें थे कि मामला क्या है । मतलब किसीकी समझमें नहीं आया । मतलब कुछ

होता तो समझमे आता। आपसे पूछा गया कि आखिर इसका अर्थ क्या है। आप बोले—

शायरे अशआरे मोहमिल उर्फ नाथूराम नाम।
शेख़सादी भी न समझे जिस सख़ुनवरका कलाम ॥

यह सुनकर लोग खूब हँसे।

एक बार एक समस्या थी 'है जबसे दस्ते यारमें साग़िर शराबका' आपने इसकी यों पूर्ति की। यह सवत् १६३५ की बात है, जिसे आज ५१ वर्ष हो गये।

ख़िवलत में शर्म किसकी है आओ गले लगो
इस वक्त काम क्या है मेरी जाँ हिजाबका
वह कौन है जो उकदए तकदीर हल करे
क्या यह कोई सवाल है हल्लुल—हिसाबका
हमसर हो चश्मे ज़ारसे कब हौसला है ये
सतलज व्यासा रावी वो झेलम चिनावका
लानत भी उसपै की औ मुहब्बत भी छोड दी,
है जबसे दस्ते यारमे साग़िर शराबका
शकर हमारे वास्ते ममनूए महज है
पीना शराबका हो कि खाना कबाबका

इसके साथ ही आपने चिरकीनके रगमे एक पद्य और भी लिख दिया था।

'टेढ़ी नज़रसे देखें तो झाडा निकल पडे
करती है काम यारकी आँखें जुलाबका'

• शकरजीके मजाकके कितने ही पत्र लोगोंको कठस्थ हो गये है। जब त्रिशूलजीको एक अच्छी कवितापर ५१ रु० पुरस्कार मिले थे, उस समय आपने लिखा था :—

शकर क्या कविता करे क्या पावे उपहार ।
इक्यावन तो ले गया, शकरका हथियार ॥

दिल्लीमें एक डाक्टरको ऑख दिखानेके लिए गये । उसने कहा कि एक ऑख तो खराब हो गई बन नहीं सकती, दूसरीका इलाज अगर जल्दी न हुआ तो यह भी जाती रहेगी । उसी समय आपने कहा : —

हाथ जोड बूढे शकरसे कहती है कविता बाला ।
होके सूर, भजो केशवको, लेके तुलसीकी माला ॥

नागरी प्रचारणी सभा आगरेके उत्सवपर "चॉदनी शरदकी' यह समस्या दी गई थी, उसकी आपने यह पूर्ति की :—

देखिये इमारतें मज़ार दुनियाके सारे;
रोज़ेने कहो तो शान किसकी न रद की ।
हीरा पुखराज मोतियोंकी दर दूरकर
शकरके शैलकी भी सूरत जरद की ॥
शौकत दिखा दी जमुनाके तीर शाहजहाँ
आगरेने आबरू हरमकी गरद की ।
धन्य मुमताज़ बेगमोंकी सरताज़ तेरे
नूरकी नुमाइश है चाँदनी सरदकी ॥

शकरजीसे स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र तथा सम्पादकाचार्य प० रुद्र-दत्त शर्माके अनेक ससमरण सुने । उनकी राष्ट्रीयतापूर्ण कविताएँ भी नोटबुकमें पढी ।

जब हम नवयुवक लेखकोंका जन्म भी नहीं हुआ था, उसके बीस वर्ष पहलेसे शंकरजी हिन्दी-साहित्यकी सेवा कर रहे है ।

उन दिनो शंकरजी भट्ट भगन्त नामक एक पुस्तक लिख रहे थे । उसका एक पद्य सुनिए ।

बूकता तमाकू दीया बार फूटी कोठरीमें,
गाँजी ओढ सोता हूँ, सरायकी-सी खाटपै।
भंगकी तरगमें उमग जाग जाती है तो,
जुग भरे लेख लिख लेता हूँ कपाटपै॥
कोरी वाह-वाह कोई कौडी भी न दान करे,
सूम खडे कविता तरगिनीके घाटपै।
दारुण दरिद्रता न छोडती है पिण्ड तो भी,
देवीकी दया है भारी भट्टके ललाटपै॥

शकरजीकी सेवामे पहुँचकर किसी साहित्य-सेवीका वहाँसे जल्दी आना अत्यन्त कठिन है। उनके प्रेमपूर्ण आग्रहसे एक दिनके बजाय चार दिन ठहरना पडता है। उनका सारा शरीर प० पद्मसिंहजी शर्माके शब्दोंमे प्रेमके परिमाणुओंसे बना हुआ है। बडी कठिनतासे शकरजीसे बिदा होकर हरदुआगज छोड वृन्दावनके लिए रवाना हुआ।

[२]

द्विवेदीजी और शकरजीके दर्शन करनेके बाद मै पूज्य राधाचरणजी गोस्वामीजीके दर्शन करने वृन्दावन पहुँचा। सन्ध्या-समय था। गोस्वामीजी उस वक्त अपने घरपर नही थे। वे एक मीटिंगमें, जो बन्दरोंके विषयमें हो रही थी, गये हुए थे। वृन्दावनकी जनता बन्दरोंके अत्याचारोसे तंग आ गई थी, और कितने ही लोग इस बातके पक्षमे थे कि बन्दरोंको देश-निकाला दे दिया जाय। अनेक सज्जन इस प्रस्तावके घोर विरोधी थे। मीटिंगमें इसी विषयपर वाद-विवाद हो रहा था। पक्ष तथा विपक्षमें बड़े जोरदार भाषण हुए। गोस्वामीजी बन्दरोंके पक्षमे थे। उन्होंने अपने भाषणमे कहा—"जिस समय बृन्दावनका कुछ पता नहीं था और भगवान् चैतन्यदेव यहाँपर आये थे, उस समय बन्दरोंने ही अगुआ बनकर उन्हें सब स्थानोका पता बतलाया था।" इस कथनकी पुष्टिमें उन्होने पुराने

ग्रन्थोंके कुछ प्रमाण भी दिये। दूसरी ओरसे कहा गया—"बन्दरोंने प्राचीन कालमे चाहे कुछ किया हो, आजकल तो उनके द्वारा बडी हानि हो रही है। कितने ही बच्चोको वे काट खाते है, और एक-आध बार तो ऐसा भी हुआ है कि बन्दरोंने बच्चेको छतसे ढकेल दिया और उसे भारी चोट आ गई। बन्दरोंके मारे नाकोदम है। इनको तो पकडवाकर बृन्दा-वनसे दूर ही निकाल देना चाहिए।"

मीटिंगमे बडी गरमागरम बहस हुई, बहुत-कुछ होहल्ला हुआ और प्रस्तावपर वोट ही नहीं लिये जा सके! गोस्वामीजी-जैसे सुधार-प्रिय तथा समझदार व्यक्तिको बन्दरोके पक्षमे बोलते देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। यही विचार मनमे उत्पन्न हुआ कि जो गोस्वामीजी अपनी लोक-प्रियताकी कुछ भी परवाह न करके और अपनी जीविकाको भी खतरेमे डालकर आजसे तीस-पैंतीस वर्ष पहले समुद्र-यात्रा, शुद्धि तथा विधवा-विवाह आदिका समर्थन कर चुके थे, वे ही आज बन्दरोके पक्षका समर्थन करते हुए कैसी लचर दलीलें दे रहे है! स्वय गोस्वामीजीने मुझसे कहा था—"लक्ष्मीनारायणजीके बरसानेके मन्दिरके लिए ५०० रुपये महीने-का खर्च है। उसके अधिकारी इस मन्दिरको मेरे पिताजीके सुपुर्द करना चाहते थे, पर मेरे विधवा-विवाहके पक्षमे होनेके कारण उन्होने ऐसा नही किया।" बात दरअसल यह थी कि गोस्वामीजी अब वृद्ध हो गये थे, और उनके यौवनकालकी स्फूर्ति अब करीब-करीब नष्ट हो चुकी थी। यदि ऐसा न होता, तो वे बन्दरोके समर्थनके लिए शास्त्रका सहारा न ढूँढते। आचार्य गिड्वानीने, जो वृन्दावनके प्रेम महाविद्यालयमें कुछ दिनो तक प्रिन्सिपल रहे थे और बन्दरोंकी करतूतोंसे भली-भाँति परिचित थे, एक बार कहा था—"जिस तरह विलायतमे 'Freedom of the city of London' ('लन्दनकी स्वाधीनता') महापुरुषोंको दी जाती है, उसी प्रकार वृन्दावनमे नागरिक स्वाधीनता बन्दरोको प्रदान कर दी गई है।" गिड्वानी

जी शायद अयोध्याजी नही गये, नही तो उनको पता लग जाता कि वहाँके बन्दरोको नागरिक स्वाधीनता ही नही, बल्कि 'डोमीनियन स्टेटस' दे दिया गया है,—पूर्ण स्वतन्त्र है, और डार्विन-मतानुसार अपने वंशज मनुष्योंपर मनमाना शासन करते है। खैर, कुछ भी हो, उस मीटिंगमे बडा आनन्द रहा। पक्ष और विपक्षके महानुभावोंके चेहरोपर उनके मनोभाव झलक रहे थे, और उन्हें अध्ययन करना बडा मनोरंजक था। खास तौरसे कुछ हलवाइयोके चेहरोपर, जो उस मीटिंगमे उपस्थित थे, बड़े करुणा-जनक भाव थे।

मीटिंग खत्म होनेके बाद गोस्वामीजीसे मिलना हुआ। अपने निकटके एक मन्दिरमे उन्होने मेरे ठहरनेका इन्तज़ाम कर दिया। दूसरे दिन उनसे अनेक साहित्यिक विषयोपर बातचीत हुई।

गोस्वामीजी हिन्दी-जर्नलिज्म (पत्रकार-कला)के पिछले चालीस वर्षोंके जीते-जागते इतिहास थे, और उनके मुखसे पुरानी बातें सुननेमे बडा आनन्द आया। संवत् १९३४ से आपने समाचारपत्रोंसे लेख लिखना प्रारम्भ किया था, और उस समय शायद ही कोई ऐसा पत्र निकलता हो, जिसमे गोस्वामीजीके लेख न छपे हो। पुराने हिन्दी-समाचारपत्रोका जैसा अच्छा संग्रह गोस्वामीजीके पास था, वैसा शायद ही कही किसीके पास हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बालकृष्ण भट्ट आपकी विद्वत्ताकी बडी प्रशंसा किया करते थे, और 'सुदर्शन'-सम्पादक माधवप्रसादजी मिश्रने तो उन्हें एक बार हिन्दीका बाणभट्ट तक कह दिया था। संस्कृत, हिन्दी तथा बॅगलाका तो आपको बहुत अच्छा ज्ञान था ही, पर साथ ही मराठी, गुजराती, उड़िया और अंग्रेजी भी काम चलाऊ जानते थे।

संवत् १९३९मे लार्ड रिपनके शासनकालमे शिक्षा-कमीशनकी नियुक्तिके समय जब उर्दूके समर्थक हिन्दीको हानि पहुँचानेपर तुले हुए थे, आपने २१ हजार व्यक्तियोके हस्ताक्षर कराके हिन्दीके पक्षमें एक प्रार्थना

पत्र उक्त कमीशनके पास भेजा था। संवत् १९४०मे आपने 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। 'भारतेन्दु'की उन दिनो अच्छी धूम थी, और उसके लेख दूसरे हिन्दी-पत्र तो उद्धृत करते ही थे, पर कभी-कभी अंग्रेजी पत्रोमे भी उनका अनुवाद प्रकाशित हो जाता था। मथुरासे वृन्दावन तक रेलवे लाइनका निकलना 'भारतेन्दु'के आन्दोलनका ही परिणाम था। 'भारतेन्दु'मे उन दिनो उन्होने हास्यरसके जो निबन्ध लिखे थे, उन्हे जनताने खूब पसन्द किया था। गोस्वामीजीने छोटी बडी कुल मिलाकर ४० पुस्तके लिखी थी। ब्रजभाषाके तो वे जबरदस्त समर्थक थे ही। 'भारतेन्दु' द्वारा ही आपने 'हिन्दू जातिकी वृद्धिका उपाय' शीर्षक लेख लिखकर शुद्धिकी आवश्यकता बतलाई थी, और उन्ही दिनो 'विधवा-विवाह-विवरण' तथा 'विदेश-यात्रा-विचार' नामक पुस्तके लिखकर विधवा-विवाह तथा विदेशयात्राका समर्थन भी किया था। कूप-मण्डूकोने इन पुस्तकोके प्रकाशित होते ही गोस्वामीजीके विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन उठाया, पर आपने इसकी कुछ भी परवाह न की।

गोस्वामीजीसे दो-तीन बार कई-कई घण्टे बातचीत हुई। उनका सक्षेप पुरानी नोट-बुकमेसे यहॉ दिया जाता है। गोस्वामीजीने मुझे बतलाया कि हिन्दीका प्रथम पत्र 'बुद्धि प्रकाश' था, जिसे मुन्शी सदासुखलालने नूरुल-अबसार प्रेसमें छपाया था।*

गोस्वामीजीने एक बार ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके दर्शन किये थे, और उसका किस्सा बडा मनोरञ्जक है। गोस्वामीजी अपने एक शिष्यके यहॉ काशी गये थे। उस समय उनकी उम्र सत्रह-अठारह वर्षकी थी। उनके शिष्य तथा भारतेन्दु बाबूके घरानेसे कुछ अनबन चली आती थी, इसलिए गोस्वामीजी अपने शिष्यको यह बतलाना नही चाहते थे कि वे भारतेन्दुसे

* 'उदन्त मार्तण्ड'का पता श्री ब्रजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्यायने पीछे लगाया।

मिलनेके इच्छुक है। इसलिए उससे छिपकर रातको ११ बजे गणेशराम व्यासके साथ भारतेन्दुसे जाकर मिले। गोस्वामीजीने कहा—"उन दिनो मै अनुभवहीन नवयुवक ही था, और भारतेन्दुसे अपनी पहली मुलाकातमें ही मैंने एक प्रश्न उनसे किया—'बाबूसाहब, कविको रसिक होना चाहिए, या नहीं? उसको स्त्रियोसे प्रसंग रखना चाहिए, या नही?' मेरी यह दुष्टता थी, पर भारतेन्दु बाबूने बडी स्पष्टताके साथ उत्तर दिया—'अवश्य, जो कवि होकर स्त्रीप्रसंग नही रखे, उसे शृंगाररसकी स्फूर्ति नही हो सकती और न वह सब बातोंको जान सकता है, और मैने भी इसीलिए यह सब झगडा रख छोडा है।' भारतेन्दु बाबू उन दिनो डिग्रियो-के डरके मारे घरसे नही निकलते थे। तीन-चार लाख अपना बर्बाद कर चुके थे, और बहुत-सा रुपया उधार कर लिया था। पिछले जमानेमें महाराजा बनारसके यहाँ दरबारी हो गये थे। महाराजके यहाँसे उन्हे सौ रुपये महीने मिलते थे, काम कुछ नहीं था। महाराजने एक बार उनसे कहा—"बबुआ, तुमने अपनी सब दौलत बिगाड दी।" भारतेन्दुने कहा "महाराज, सब बिगाड दी। मेरे दादाको इसने खाया, मेरे बापको भी खाया और अब मुझे भी खा जाना चाहती थी, इसलिए मैने कहा कि मै ही इसे खा लूँ। 'प्रेमजोगिनी' नाटकमें उन्होने अपने चरित्रका बहुत-सा भाग लिख डाला है।"

गोस्वामीजीने बहुत-सी बाते भारतेन्दुके चरित्रके विषयमे बतलाई, जिनको उद्धृत करना उचित न होगा। जीवन-चरित लिखनेके आदर्शके विषयमें आपने कहा—**"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"** गोस्वामीजीके कहनेका अभिप्राय यह था कि जीवन-चरितोमे सुचरितोंका ही वर्णन रहना चाहिए। जब मैने श्री शिवनन्दन सहायजी द्वारा लिखित भारतेन्दुके जीवन-चरितकी प्रशंसा की, तो गोस्वामीजीने कहा—"वह जीवन-चरित अच्छी तरह नही लिखा गया। मेरे पास बाबूजीको लगभग

१०० चिट्ठियाँ है। कभी हम और आप दोनो साथ ही काशी चले और भारतेन्दुजीके जीवनका मसाला इकट्ठा करे।"

श्री शिवनन्दनसहायजीके भारतेन्दु-जीवन-चरितको मै हिन्दीकी सर्वश्रेष्ठ जीवन साहित्यिक चरित समझता था, और अब भी मेरी यही सम्मति है, इसलिए गोस्वामीजीके मुखसे यह सुनकर कि वह जीवन-चरित अच्छी तरह नही लिखा गया है, मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ।

गोस्वामीजीने मुझसे कहा—"जिन साहित्य-सेवियो अथवा पत्रकारोंसे मेरा परिचय और पत्र-व्यवहार रहा, उनमे खास-खास ये है—श्रीनिवास-दासजी, श्रीधर पाठक, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, बाबू तोताराम, पं० गौरीदत्त, देवकीनन्दन तिवारी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथजी, दामोदर शास्त्री (दामोदर विष्णु सप्रे), पं० बद्रीदत्त जोशी, राव कृष्णदेवजी, बाबू काशीनाथजी खत्री, राजा लक्ष्मणसिह, जाहिरसिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या इत्यादि।"

श्री गोस्वामीजी और श्रीधर पाठक इत्यादिके बीचमे ब्रजभाषा तथा खडी बोलीके विषयमे जो वाद-विवाद हुआ था, वह भी बडा मनोरंजक था। यह 'खडी-बोली-आन्दोलन' नामक पुस्तिकामे, जो बाबू अयोध्या-प्रसाद खत्री द्वारा संकलित की गई थी, प्रकाशित हुआ था। गोस्वामीजीने मुझे बतलाया कि 'सारसुधानिधि' मे उनके तथा रत्नाकरजीके बीच भी वाद-विवाद चला था। मैने गोस्वामीजीसे निवेदन किया कि आप अपने संग्रहकी एक बार व्यवस्था कर दीजिए, और उसे किसी प्रतिष्ठित संस्थाको दे दीजिए, जहाँ यह सुरक्षित रहे। उन्होने कहा—"मैंने काशीकी नागरी प्रचारिणी-सभाको लिखा था कि वह इन कागजोको ले ले, पर वहाँसे यह उत्तर आया कि हमारे पास इतना स्थान नही है कि हम इनको ढंगके साथ रख सकें। अब मैने हिन्दू-विश्वविद्यालयको लिखा है। वे लोग

लेनेको राजी हो गये है और उन्होंने सूची माँगी है। मेरी यह अभिलाषा है कि जिन अलमारियोमे यह मसाला रहे, उनपर मेरे लडकोका नाम रहे।"

जिस समय गोस्वामीजीने यह बात कही, उस समय मै यह समझ सका कि अपने नौजवान पुत्रोंकी असामयिक मृत्युका हृदयबेधी दुःख अब भी उन्हे सता रहा था। सच बात तो यह थी कि इस असह्य दुःखके कारण उनका हृदय जल गया था, और इन पारिवारिक आपत्तियोकी वजहसे वे सार्वजनिक जीवनसे विरक्त हो गये थे। फिर भी उनके हृदयमे सामाजिक तथा साहित्यिक विषयोंके प्रति काफी अनुराग अवशिष्ट था। आवश्यकता इस बात की थी कि कोई सहृदय लेखक उनके पास रहकर हिन्दी-पत्रो तथा पत्रकारो और लेखकोंके विषयमे उनसे बातचीत करता, और अनेक पुरानी स्मृतियोको जाग्रतकर उन्हें साहित्यिक रूप देता। हिन्दी-पत्रोके इतिहासका एक भाग स्वर्गीय रुद्रदत्तजी सम्पादकाचार्यके साथ समाप्त हुआ, दूसरा स्वर्गीय राधाचरणजी गोस्वामी अपने साथ ले गये, और तीसरा पूज्य द्विवेदीजीके मस्तिष्कमे है। परमात्मा उन्हे स्वास्थ्य तथा शक्ति प्रदान करे और चिरकाल तक जीवित रखे, जिससे कम-से-कम यह तृतीय भाग तो जनता तक पहुँच सके। तीर्थ-तुल्य आदरणीय जिन तीन सज्जनोके दर्शन करने मै घरसे निकला था—द्विवेदीजी, शंकरजी तथा गोस्वामीजी—उनका आशीर्वाद पाकर फिर घर वापिस लौट आया। वह तीर्थ-यात्रा दस-बारह दिनसे अधिक की न थी, पर उसके अनुभव मेरे लिए अमूल्य थे। कभी-कभी मनमे आता है कि चार-पाँच महीनेका अवकाश लेकर भारतकी भिन्न-भिन्न भाषाओंके महारथियोके दर्शन और सत्संगके लिए तीर्थ-यात्रा करूँ, पर इतना अवकाश कहाँ, और मनका कोई साथी भी शायद ही मिले।

नवम्बर १९२९]

बड़े दादा श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

शान्ति निकेतनके वे दिन भी कितने सौभाग्यपूर्ण थे। उस समय उस तीर्थके यात्रीको एक साथ ही छः महापुरुषोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। बड़े दादा और गुरुदेव, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज और शास्त्री महाशय, आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा आचार्य नन्दलाल वसु। इनमेंसे तीन तो अब इस लोकमे नही रहे और चौथे आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य (शास्त्री महाशय) अब अवकाश प्राप्त करके अपने घर चले गये है। क्षितिबाबू और नन्दलाल वसु अब भी शान्तिनिकेतनका गौरव बढा रहे है।

शान्तिनिकेतनके इन विशिष्ट व्यक्तियोका अपना-अपना महत्त्व था। वे एक-दूसरेकी छाया नही थे। इन सबमे वयोवृद्ध थे बड़े दादा और उनके दर्शन करना मानो प्राचीन कालके किसी ऋषिके दर्शन करना था। जब गान्धीजीने प्रथम बार उनके दर्शन किये थे तो कहा था—

"इतने दिनो बाद भारतवर्षके प्राचीन ऋषिकी जीवित मूर्ति देखनेको मिली। आज तक तो केवल पुस्तकोमे ही ऐसा पढा था। जो पशु-पक्षी हम लोगोंकी आवाज सुनकर ही भाग खड़े होते है, वे ही प्रेमवश बड़े दादाके संगी हैं! अपूर्व है यह मैत्री और प्रेमकी लीला!"

और जिस दिन गान्धीजीने उन्हें श्रद्धापूर्वक 'बड़े दादा' कहकर सम्बोधन किया था, बड़े दादा खूब हँसे थे। अट्टहास तो उनके स्वभावका ही एक अंग था। उन्होंने कहा था—

"मेरे भाई, तुम यद्यपि उम्रमें मुझसे छोटे हो तो भी मुझसे बहुत श्रेष्ठ हो। तुम अनन्त गुणवाले श्रीकृष्ण हो और मै हूँ तुम्हारा गुणहीन

पगला बलराम दादा ! लेकिन मै तुम्हें सदैव प्यार करूँगा। मुझे दुःख है कि मै बूढा हो चला। मै तुम्हारी साधनाकी सिद्धि नही देख सकूँगा, लेकिन यह जानता हूँ कि प्रत्येक युगमे जो बडे-बडे भारतीय ऋषि हुए है, तुम उन्हीकी परम्परामे पडते हो। भीष्म, विदुर, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक आदि महापुरुष इसी रास्ते चले है। इन साधकोंकी धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है। बहुत दिनोंसे उपेक्षित होनेके कारण यह धारा सूख चली थी, तुमने फिर उस धाराको जीवित रूपमें संसारके सम्मुख उपस्थित किया है। मै बूढा हुआ। तुम्हारी सिद्धिको प्रत्यक्ष देखनेका सौभाग्य यद्यपि मुझे नहीं मिला तो भी मुझे इस बातका सन्तोष है कि तुमने उस शाश्वत भारतीय धाराको जाग्रत किया है। जानता हूँ कि श्रेष्ठ तुम्ही हो, लेकिन ज्येष्ठ तो मै ही हूँ। मुझे 'बडे दादा कहते हो, इसलिए बडे भाईके नाते आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना न कभी नष्ट होगी और न कभी कलुषित। देशके स्वाधीन हो जानेपर भी इस साधनाकी जरूरत रहेगी। उस समय ऐसा हो कि यह साधना तुम्हारे बाद भी अबाध गतिसे चलती रहे। कोई हीनता, कोई संकीर्णता, कोई स्वार्थ और कोई कलुष, तुम्हारी साधनाकी धाराको स्पर्श न कर सकेगी।"[1]

गुरुदेव (कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) ने अपने संस्मरणोंमें बडे दादाकी बडी श्रद्धापूर्ण मूर्ति अंकित की है। यद्यपि आगे चलकर तो वे 'रवि'के 'बडे दादा'से जगतके 'बडे दादा' बन गये थे, पर उन दिनों तो कविवर तथा उनके भाइयोंके ही 'बडे दादा' थे। गुरुदेवने लिखा है कि—

"मै वाल्मीकि रामायण पढने लगा था और उसका अंट-शंट बँगला अनुवाद भी कर लेता था। मेरी संस्कृत पाठ्य-पुस्तकमे रामायणका एक अंश था और मेरा ज्ञान उसी तक परिमित था और उसे भी मैं पूरे तौरपर नही समझ पाता था। जब मेरी माताजीने सुना कि मै महर्षि

---

१. आचार्य क्षितिमोहन सेनका 'महात्माजी और बडे दादा' लेखसे।

वाल्मीकिकी रचनाको मूलमें पढ लेता हूँ तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुईं और अपने पुत्रकी इस करामातको अन्य कुटुम्बियोंके सामने प्रदर्शित करनेके लिए उत्सुक हो उठीं। वे बोलीं, 'ये श्लोक तू द्विजेन्द्र (बडे दादा) को सुना।' मैं समझा कि अब आफत आई। अनेक बहाने किये, पर सब निष्फल। उन्होंने बडे दादाको बुला भेजा और ज्योंही वे पधारे, माताजीने उनसे कहा, 'द्विजेन्द्र! सुन तो सही, वाल्मीकि रामायण पढ लेता है और कितने अच्छे ढंगसे अनुवाद करता है।'

"बडे दादा उस समय सम्भवतः अपनी किसी साहित्यिक रचनामें व्यस्त थे और वे मेरे संस्कृतसे बँगला अनुवादको सुननेके लिए बिल्कुल तैयार न थे। उन्होंने कुछ श्लोकोंका ही अनुवाद सुनकर कहा, 'बहुत अच्छा', और चलते बने।"

"बडे दादा उन दिनों अपना महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ 'स्वप्न प्रयाण' लिख रहे थे। जितना वे लिखते थे, उसका बहुत-सा हिस्सा फाडकर फेंक भी देते थे और आम्रमंजरीकी तरह उनके द्वारा अस्वीकृत पद्य-खण्ड बरामदेमें फर्शपर बिखरे हुए दीख पडते थे। यदि उस समय उनकी रक्षा कोई कर लेता तो सुन्दर पुष्पोंके रूपमें आज वे बँगला साहित्योपवनको सुशोभित करते। हम सब लुक-छिपकर उनकी कविताका आनन्द उठाते थे। पर क्या हम उनके 'स्वप्न प्रयाण' को समझते भी थे? लेकिन पूरा-पूरा समझना उसके आनन्दको उठानेके लिए आवश्यक भी न था। उसकी समुद्रतुल्य गहराईको हम बालकवृन्द भले ही न माप सकते, पर उसकी लहरोंका आनन्द तो उठा ही सकते थे।"

यद्यपि मेरी प्रथम शान्तिनिकेतन-यात्रा मई सन् १६१८में हुई थी तथापि सन् १६२०से पूर्व मुझे बडे दादाके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। हाँ, प्रथम यात्रामें गुरुदेवके दर्शन अवश्य हुए थे और

उनसे कुछ वार्तालाप करनेका भी अवसर मिला था। जब सन् १६२०-२१ मे चौदह महीनेतक मुझे शान्तिनिकेतनके मुक्त आकाशके नीचे रहनेका अवसर मिला तब तो कई बार बड़े दादाकी सेवामे उपस्थित हुआ और उनका अट्टहास तो बीसियो बार सुना।

शान्तिनिकेतनमे दो व्यक्तियोका हास्य प्रसिद्ध था, एक तो बड़े दादाका और दूसरा शास्त्री महाशयका। ये दोनो हास्य संक्रामक थे और काफी दूरसे सुनाई पड सकते थे। चूॅकि दीनबन्धु ऐण्ड्रूज बड़े दादाके विशेष कृपापात्र थे और नित्यप्रति शामको उनकी सेवामे उपस्थित हुआ करते थे, इसीलिए उनके समीप रहनेके कारण प्रायः बड़े दादाकी चर्चा हुआ करती थी। शास्त्री महाशयसे भी बड़े दादाके विषयमे अनेक बार वार्तालाप हुआ था।

बड़े दादा बॅगलाके बहुत अच्छे कवि और दर्शन-शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका एक हिन्दी भाषा-भाषी नौकर था, जिसका नाम था मुनीसर। एक बार आप योगदर्शन पढ़ रहे थे। व्यास भाष्यमे आप ऐसे तन्मय हो गये कि अपने अशिक्षित नौकरसे पूछने लगे, "अच्छा मुनी-श्वर! देखो तो इस पंक्तिका अर्थ ऐसा ही होगा न?"

शास्त्री महाशयने सुनाया था कि बड़े दादा उसी थालीसे अपने नौकर मुनीसरके दो-तीन वर्षके लडकेको भोजन कराते थे और स्वयं भी भोजन करते जाते थे। मुनीसरका लडका मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता था, चेहरा और मुॅह भी साफ न था, पर बड़े दादा उसके मुॅहमे कौर देते और फिर स्वयं भी खाते। कई बार बडे दादाके परिवारमे इस बातकी चर्चा चली। स्त्रियोंने कहा, "कहाॅ तो प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुरके पौत्र और कहाँ नौकर मुनीसरका लडका! यह तो बडे दादा अच्छा नही करते!"

जब यह बात बड़े दादाके कानोतक पहुॅची तो वे बहुत नाराज हुए और बोले, "सो इसमे क्या है? हमको जो अच्छा लगेगा वही करेंगे।"

बडे दादा दुनियादारीसे बिल्कुल अपरिचित थे। एक बार एक ब्राह्मण आपके पास भिक्षाके लिए आया और बोला, "मेरी लडकीका विवाह है। कुछ सहायता दीजिये।"

बडे दादाके पास उस समय कुछ नही था। उन्होंने उससे कहा, "भाई, और तो मेरे पास कुछ नही है, इस समय। यह घोडा-गाडी है, सो इसे ले जाओ और इसे बेचकर अपना काम चलाओ!" ऐसा कहकर आपने उसे घोडा-गाडी ही दे डाली!

एक बार कोई अन्य व्यक्ति आया और उसने कुछ कपडा माँगा। उन्होंने अपना बहुमूल्य काश्मीरी दुशाला उसे देकर कहा, "देखो, इसे जल्दीसे ले जाओ, नहीं तो कोई देख लेगा।" वह लेकर चला ही था कि घरवालोंने देख लिया। आखिर उसे कुछ रुपये देकर दुशाला वापस ले लिया।

चूँकि बडे दादा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके ज्येष्ठ पुत्र थे, इसलिए पहले जमींदारीका काम उन्हींको सौंपा गया था, पर थोड़े दिनोंमे ही पता लग गया कि वह कार्य उनकी शक्तिके बाहरका है। वे अपनी जमींदारीमें लगान उगाहनेके लिए गये। बडे दादाको सीधा-सादा समझकर किसानोंने कहा, "हुजूर, खानेको नहीं मिलता। लगान कहाँसे दे?"

बड़े दादाने पिताजीको चिट्ठी भेजी, "यहाँ दुर्भिक्ष पडा हुआ है, रुपया भेजो।"

सुनते है कि जब महर्षि देवेन्द्रनाथका मृत्युकाल निकट आया तो उन्होंने अपने सब लडकोंको बुलाकर कहा था, "देखो, तुम सब अपने बडे दादाकी देखभाल रखना। यह बहुत भोला है।" बड़े दादाके भोले-पनके कारण उनके सुपुत्र तथा उनको पुत्रवधू उनके अभिभावक बन गये थे।

बडे दादा ८३-८४ वर्षकी उम्रतक बराबर लिखा-पढा करते थे। अपने कार्यमें वे इतने मग्न रहते थे कि चिडियाँ प्रायः उनके सिर और कन्धेपर बैठा करती थीं और गिलहरियाँ तो उनके हाथसे भोजन करती थीं। एक बार एक चिडियाने उनके कन्धेपर बैठकर उनकी एक आँखपर आघात किया। आँख बहुत लाल हो गई। जब शास्त्री महाशयने पूछा, "यह क्या हो गया?" तो बोले, "नही-नही, कुछ नही, चिड़िया बिचारी तो कुछ जानती नहीं।"

बडे दादा खूब हास्य-प्रेमी थे। एक बार उन्होने शास्त्री महाशयको लिखकर भेजा—

> **शशिना च निशा, निशया च शशी**
> **शशिना निशया च विभाति नभः।**
> **रविणा च विधुः विधुना च रविः**
> **विधुना रविणा च विभाति जगत्।**

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज कलकत्ते जानेवाले थे। इसलिए वे मुझे बडे दादाकी सेवामे ले गये और उनसे कहा, "अगर आपको कोई चिट्ठी अंग्रेजीमें बोलकर लिखानी हो तो इसे बुला लेना।" बडे दादाने मुझे बुलाया। नामके आगे 'चतुर्वेदी' शब्द देखकर उन्हे यह भ्रम हो गया था कि मैं वस्तुतः वेद जानता हूँ! इसलिए पहला प्रश्न उन्होने यही किया, "वेदोका अध्ययन कितना किया है?"

मैने कहा, "कुछ भी नही।" मुझे निर्लज्जतापूर्वक अपना घोर अज्ञान स्वीकार करना पडा।

"भारतीय दर्शन-शास्त्रके विषयमे कुछ जानते हो?"

"नहीं जानता।"

"मूल बाते भी नहीं जानते?"

"नही जानता।"

इसपर बडे दादाको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होने कहा, "अच्छा, बैठो। कुछ बाते सुन लो।" और बडे दादाने चालीस-पैंतालीस मिनट तक भारतीय दर्शन-शास्त्रकी मोटी-मोटी बाते मुझे बतलाई। दुर्भाग्यवश मेरी रुचि दर्शन-शास्त्रमे बिल्कुल नही थी, इसलिए मेरा मन बडे दादाके भाषणमे नही लगा। जब बडे दादा समझा चुके तो उन्होने पूछा, "समझ गये?"

मैने सिर्फ इतना ही कहा, "हॉ, कुछ-कुछ समझमे आ गया।"

सुना है कि एक बार हजरत सुलैमान अपने सुपुत्रको दर्शन-शास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बाते समझा रहे थे। लडका बहुत देरतक सुनता रहा। हजरतने पूछा, "क्या समझे? कुछ आशंका हो तो पूछ लो।" वह बोला, "और तो सब समझ गया, पर एक बात समझमे नही आई। वह यह कि ऊॅटके पेटमे गोली कौन बनाता है?" बस यही गति मेरी थी।

बडे दादाकी सम्मतिमे प्रत्येक शिक्षित भारतीयके लिए दर्शन-शास्त्र की मूल बातोसे परिचित होना आवश्यक था। उस दिन मुझे अपने अज्ञानपर सचमुच बहुत लज्जित होना पडा।

बडे दादा रातको बहुत देरतक पढते रहते थे। पहले एक मोमबत्ती जलाते, फिर दो और फिर तीन। कभी-कभी रातको एक बज जाता, कभी दो। मुनीसर कहता, "हुजूर, सोनेका बखत हो गया। बहुत देर हो गई।" बडे दादा पूछते, "क्या बजा है?" मुनीसर कहता, "दो बज गये।" बडे दादा आश्चर्यसे कहते, "अरे, दो बज गये!"

× × ×

एक बार बडी जिम्मेदारीका काम मेरे सुपुर्द हुआ। जहॉ गुरुदेव गान्धीजीके असहयोग आन्दोलनसे कई अंशोमें असहमत थे, वहॉ बडे दादा गान्धीजीके कट्टर भक्त थे। उन्हे इस बातसे दुःख होता था कि उनका छोटा भाई 'रवि' गान्धीजीके विरुद्ध कुछ भी लिखे। गान्धीजी कलकत्ते

पधारे थे। बड़े दादा उनकी सेवामे एक पत्र कलकत्ते भेज चुके थे और उसका 'पुनश्च' (शेषाश) किसी आदमीके हाथ भेजना चाहते थे और इस बातको गुप्त रखना चाहते थे। अतएव एक ऐसे आदमीकी तलाश हुई कि जो इस बातको सावधानीसे करे। बड़े दादाके प्राइवेट सेक्रेटरी, अनिलबाबूकी कृपासे उस पत्रको ले जानेका भार मेरे ऊपर डाला गया। गान्धीजीने उस पत्रको सुरक्षित नहीं रखा। शायद इस डरसे कि कहीं उस पत्रके प्रकट होनेसे गुरुदेव और बड़े दादामें कोई भ्रम उत्पन्न न हो जाय, उन्होने उसे नष्ट कर दिया। पर मैंने एक सावधानी की थी। उस पत्रकी नकल रख ली थी और वह नकल अब भी सुरक्षित है। पत्र अंग्रेजीमें था। उसका साराश यह था—

रवि ग़लत रास्तेपर जा रहा है। जब भारतमाता अपने नवीन पुत्र 'स्वराज'को जन्म देनेके पूर्व पीडा सहन कर रही है, रवि ऐसे समय गाने-बजानेमे व्यस्त है। वह विश्व-बन्धुत्व-रूपी वृक्षकी शाखाओपर पानी छिडक रहा है, जबकि उसकी जड ही जलके अभावमे सूखी जा रही है। बिचारा सहृदय ऐंड्रूज भी अपने पथसे विचलित होता जाता है। मै हृदयसे दुःखी हूँ। तुम ही मेरे आशाके ध्रुव नक्षत्र हो। ईश्वर दिन-रात तुम्हारे सिरपर अपने आशीर्वादोकी बौछार करता रहे।

तुम्हारा अयोग्य
बडा दादा,
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

इसी पत्रका 'पुनश्च' लेकर मै कलकत्ते गया था।

गान्धीजीने इस पत्रका जो उत्तर दिया था, वह भी मेरे पास सुरक्षित है। उसमे उन्होंने बड़े दादाको यही लिखा था, "आप रविबाबूके विषयमें चिन्ता न करे, वे जो कुछ लिखते है, सद्भावनासे लिखते है। मै उनसे मिलकर बात-चीत करूँगा।" इत्यादि।

बात यह थी कि बडे दादा बड़े कट्टर देश-भक्त थे। जब दीनबन्धु ऐएड्रू ज शान्तिनिककेतन पहुँचे थे तो बडे दादाने उन्हें अपने पास तक नही फटकने दिया और एक दिन तो उन्हे इतनी खरी-खोटी सुनाई कि दीनबन्धु ऐएड्रू जने बडे दादाके पौत्र दीनू बाबूसे कहा, "दीनू ! तुम्हारे बाबा तो बड़े भयङ्कर आदमी हैं !"

परन्तु दीनबन्धु ऐएड्रू ज ने बडे दादाकी सेवा कर-करके उनको इतना मुग्ध कर लिया था कि वे ऐएड्रू जके वियोगको सहन ही नही कर पाते थे। एक चिट्ठीमे बडे दादाने दीनबन्धु ऐएड्रू जको लिखा था—

"मै तुम्हे प्रेम करता हूँ और तुम्हारा सम्मान भी करता हूँ। जितने भी मित्र मुझे इस जीवनमे मिले है और जिनके मिलनेकी भविष्यमे सम्भावना है, उन सबको मिलाकर और सबसे बढकर तुम्ही हो। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त है कि मै तुम्हें 'माई डियरैस्ट चार्ली, कहता हूँ।" (५ मार्च १६२४,

बडे दादा बॅगलाके तो अत्युत्तम कवि थे ही, उन्हे अंग्रेजीमे भी छोटे-छोटे पद्य लिखनेका शौक था। एक दिन आपने अमरती मिठाईके साथ एक कविता दीनबन्धु ऐएड्रू जको लिख भेजी थी,

"As I have no other
O Charlie, brother,
Friend in need
In will and deed,
Send I to thee
Sweet Amritee
Do not refuse
To make good use
of eleventh Magh Cake
For Bordada's sake

(26-9-25)

सौभाग्यसे बड़े दादाकी यह कविता मेरे संग्रहालयमे सुरक्षित है।

बड़े दादा अपने जीवनभर यही समझते रहे कि उनके सबसे छोटे भाई 'रवि'मे आवश्यकतासे अधिक उत्साह और कल्पना-शक्ति है और उसे कभी-कभी नियन्त्रण करने तथा डाँटने-फटकारनेकी आवश्यकता है। एक दिन तो प्रातःकालके समय उन्होने अपने 'रवि'को बुलाकर डाँटते हुए कहा, "तुम अपनी संस्था गान्धीजीको क्यो नही सौंप देते ? उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्षको जिस प्रकार आन्दोलित कर दिया है, वैसा तुम तो कभी भी न कर सकोगे।" फिर शामको बड़े दादाके मनमे विचार आया कि वे रविपर आवश्यकतासे अधिक कठोर हो गये थे और बोले, "रविका आदर्श तो बहुत ऊँचा है—अर्थात् समस्त संसारकी संस्कृतियोका आतिथ्य करना—लेकिन उस आदर्शको समझने वाले है कितने ? उस आदर्शकी उच्चता तक पहुँचनेके लिए देशको कई युग लग जायेगे, और रविका स्वास्थ्य भी तो अब उतना अच्छा नही है। उसका स्वास्थ्य इस योग्य नही कि यह भार सहन कर सके। इसीकी तो मुझे चिन्ता है।

गुरुदेवने अपने जीवन-चरितमे बड़े दादाके विषयमे जो संस्मरण लिखे है, वे भी बहुत मधुर है।

जब बड़े दादाका स्वर्गवास हुआ तो २६ नवम्बर १६२५ के 'यंग-इंडियन'मे गान्धीजीने उनके विषयमे एक बडा सुन्दर नोट लिखा था—"बड़े दादा चले गये।"

एक बार शास्त्री महाशयसे मैने प्रार्थना की थी कि बड़े दादाका जीवन-चरित लिखा जाय और उन्होंने यह वचन दिया था कि वे इस कार्यमे भरपूर सहायता देंगे, पर दुर्भाग्यवश यह काम उस समय न हो सका। क्या हम आशा करे कि बन्धुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस श्राद्ध कर्मको पूर्ण करेंगे। अगस्त १६५०]

श्रीरामानन्द चट्टोपाध्याय

"रामानन्द बाबू तो ऋषि है", ये शब्द महात्मा गान्धीने कलकत्ता कांग्रेसके अवसरपर एक दिन टहलते हुए मुझसे कहे थे। स्वराज्यके मन्त्र-द्रष्टाके रूपमें श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायके सम्पूर्ण जीवनको यही एक वाक्य सूत्र रूपमे व्यक्त कर देता है, क्योकि अर्द्धशताब्दी तक जिस लगनके साथ और जैसी ओजस्वी भाषामे इस मन्त्रकी व्याख्या इस महान् पत्रकारने की, वैसी अन्य किसी भारतीय पत्रकारने शायद ही की होगी। इस दृष्टिसे भारतीय पत्रकार-कलाके इतिहासमे वे अद्वितीय थे, अनुपम थे।

"आपने सुना कि नही ? रामानन्दबाबू एक हिन्दी मासिक निकालने जा रहे है।" श्री सहगलजीने पूछा।

उन दिनो मै 'अभ्युदय' मे काम कर रहा था और यो ही टहलते हुए 'चॉद' कार्यालयपर जा निकला था। मैने उत्तर दिया, "यह शुभ समाचार मै आपसे ही सुन रहा हूँ। किसने कहा ?"

"उन्होने बताया कि श्री रामदास गौड़ने उन्हें यह खबर दी थी। मै सीधा श्रद्धेय पण्डित सुन्दरलालजीके यहाँ पहुँचा। सन् १६१० से मै पण्डितजीका भक्त रहा हूँ और वे मेरे लिए गुरु-तुल्य पूज्य रहे है। उनका रामानन्दबाबूसे पुराना परिचय था, बल्कि यो कहना चाहिए कि सुन्दर-लालजी उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। उन्हींके आग्रह और उन्हींकी सिफारिशसे मुझे 'विशाल भारत'मे काम करनेका सुअवसर मिला।

मेरे मनमे सङ्कोच था। अपनी अयोग्यता और अनुभवहीनताके कारण मनमे यह आशङ्का थी कि 'माडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी'-कार्यालयसे मै अच्छा पत्र निकाल भी सकूँगा, पर पण्डित सुन्दरलाल तो ठहरे घोर

आशावादी, उन्होंने हिम्मत बँधाई और कहा, "अरे भई, डरनेकी क्या बात है ? हमलोग भी तो है। हम तुम्हारे साथ है।"

× × ×

"'विशाल भारत'के सम्पादन-कालमे मुझसे न जाने कितनी भूले हुई और मेरी धृष्टताओंका भी अन्त नही था, पर रामानन्दबाबू जिन्हें हम 'बडे बाबू'के नामसे पुकारते थे, सदा मुझे क्षमा ही किया। वे सदासे 'पूर्ण स्वाधीनता'के उपासक थे और अपने अधीनस्थोके प्रति उनका बर्ताव सहृदयतापूर्ण ही होता था। सम्पादकीय अधिकारोंको वे सुरक्षित रखनेके पक्षमे थे और विरोधीके दृष्टिकोणके प्रति भी उनके हृदयमे सहिष्णुता थी।

× × ×

'विशाल भारत'के किसी प्रारम्भिक अङ्कमे एक नटीका चित्र छप गया था। बडे बाबूने मुझे बुलाकर बडी सावधानीसे कहा, "अच्छा हो यदि आप नर्तकियोंके चित्र 'विशाल भारत'मे न छापे। उनका जनतापर अच्छा प्रभाव नही पडता। वे प्रायः सच्चरित्र नही होती।

मैने बडे बाबूसे कुछ बहस करनेकी भी धृष्टता की थी। आज यह सोचकर लज्जित होता हूँ और अपनी मूर्खतापर हँसी भी आती है।

"वह नटी बडी कलाकार है और किसीके चरित्रकी जॉच हमलोग कहॉतक करते फिरेगे ?" मैने यह तर्क उपस्थित किया।

बड़े बाबूने सिर्फ इतना ही कहा, "आपको पूर्ण अधिकार है कि आप चाहे जो कुछ लिखे, चाहे जिसका चित्र छापे। हॉ, अपने अनुभवके विचारसे यह परामर्श मैने दे दिया है।"

उन्ही दिनों अकस्मात् मोहनजोदडोके आविष्कारक, श्री राखालदास बनर्जी 'विशाल भारत' कार्यालयमे आ निकले। वे इस बातको सुनकर बहुत हँसे और उन्होंने कहा—

"देखिये, आप मेरी गलती न दुहराइए। जब मैं प्रयागमें था तो कहींसे मुझे किसी नर्तकीकी तस्वीर मिल गई। उसे यो ही जेबमें डाले हुए केदारबाबूसे मिलने चला गया। वह चित्र गलतीसे वहीं बड़े बाबूकी मेजपर छूट गया। दूसरे दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो उस चित्रके चार टुकड़े जुड़े हुए टेबिलपर, उसी जगह रखे थे। मैंने केदारबाबूसे पूछा—यह क्या हुआ? उन्होंने बतलाया—बड़े बाबूका स्वभाव आप जानते ही हैं। और क्या कहूँ।' 'उस पुरानी घटनाको सामने रखते हुए मैं तो यही कहूँगा, बड़े बाबू प्राचीन विचारोंके आदमी हैं। आप उनकी बात मान लीजिये और भविष्यमें ऐसी भूल न कीजिये। यह कोई सिद्धान्तका सवाल तो है ही नहीं। आपको बड़े बाबूसे इस विषयपर तर्क ही न करना चाहिए था।"

श्री राखालबाबूकी आज्ञा मैंने शिरोधार्य की और उस मामलेको जहाँ-का तहाँ छोड़ दिया।

×　　　　　　×　　　　　　×

बड़े बाबूकी उदारता तथा स्वाधीनता-प्रेमका एक उज्ज्वल दृष्टान्त मुझे उस समय मिला, जब वे हिन्दू महासभाके प्रधान बनकर सूरत गये थे। 'विशाल भारत' उन्हीका पत्र था और साधारण तौरपर उसके पाठक यही आशा कर सकते थे कि उस समय उक्त पत्रमें उनका चित्र, चरित्र तथा भाषण छपे। मैंने धृष्टतावश उनमेंसे एक भी चीजको स्थान नहीं दिया, बल्कि इसके विपरीत एक सम्पादकीय टिप्पणी द्वारा उनके सभापतित्वका विरोध किया! उस टिप्पणीका साराश यही था कि किसी भी राष्ट्रीय कार्यकर्ताको हिन्दू-सभा-जैसी साम्प्रदायिक संस्थानका सभापति नहीं बनना चाहिए।

जब बड़े बाबू सूरतसे लौटे तो उन्होंने मुझसे कहा, "हमारे सूरतवाले भाषणकी यदि कुछ आलोचना हिन्दी-पत्रोंमें निकली हो तो मुझे दिख-लाइएगा।"

मैने कहा, "'विशाल भारत'मे जो कुछ लिखा गया है, वह तो आपने देखा ही होगा।"

उन्होने कहा, "अभी मै 'विशाल भारत' पढ नहीं पाया। आपने क्या लिखा है?"

मैने धृष्टतापूर्वक अपनी टिप्पणी उन्हें दे दी। बडे बाबूने इसे पढा और मुसकराकर कहा, "इसका तो मुझे जवाब देना पडेगा। हिन्दी मै बोल तो लेता हूॅ, पर शुद्ध लिख नही सकता। मै अग्रेजीमे उत्तर लिखूॅ तो आप उसका अनुवाद करके दे सकेगे?"

मैने कहा, "अवश्य।"

बडे बाबूका वह करारा उत्तर 'विशाल भारत'मे छपा था और अपनी धृष्टताके लिए मुझे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा गुरुवर पण्डित पद्मसिंह शर्मासे खासी फटकार मिली थी। द्विवेदीजीने कहा था, "रामानन्दबाबू तो हमारे भी गुरु है। सम्पादकीय टिप्पणियाॅ लिखना हमने भी उन्हींसे सीखा है। चौबेजी, तुम्हे बहुत सोच-समझकर और सावधानीसे उनके बारेमें लिखना चाहिए था।" पूज्य पण्डित पद्मसिंहजी शर्माने भी इसी आशयका एक पत्र लिखा था।

स्वय बडे बाबूने, जो सम्पादकीय स्वाधीनताके प्रबल पक्षपाती थे, कुछ भी बुरा न माना। जब मैने उनसे पण्डित पद्मसिंहजी शर्माकी चिट्ठीका जिक्र किया तो उन्होने सिर्फ इतना ही कहा, "अपनी स्वाधीनताके लिए मैंने कायस्थ पाठशालाके प्रिंसिपलका पद छोड दिया था, भला मैं किसीकी स्वाधीनताका अपहरण कैसे कर सकता हूॅ? 'विशाल भारत'के सम्पादनमे आपको उतनी ही स्वाधीनता है, जितनी मुझे 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी'मे।"

इसके बाद बडे बाबूने मुझे एक पत्र भी लिखा, जिसमे यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि मुझे 'विशाल भारत'के सम्पादनसे लेकर हर प्रकारके प्रबन्धकी भी पूरी स्वतन्त्रता है।

'विशाल भारतके' प्रथम अंकसे ही मैंने साम्प्रदायिकताका विरोध किया था और साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता तथा जातीय विद्वेषको देशके लिए अभिशाप बताया था। जब मुझे अपनी निश्चित नीतिके अनुसार बार-बार साम्प्रदायिकताके विरुद्ध लिखना पडा तो स्वभावतः कुछ व्यक्तियो को यह बात बहुत अखरी। एक दिन मैंने यह सुना कि हिन्दू महासभाके एक जिम्मेवर अधिकारी तथा अन्य कुछ व्यक्ति डैपूटेशन लेकर बडे बाबूकी सेवामे उपस्थित हुए और 'विशाल भारत'की नीतिकी शिकायत की। बड़े बाबू हिन्दू महासभाके सभापति रह चुके थे, इसलिए उनकी सेवामे शिष्टमण्डल पहुँचना स्वाभाविक ही था। उन लोगोकी बडे बाबूसे जो बातचीत हुई उसका प्रामाणिक विवरण मुझे नही मिला। यो ही उडती हुई खबर मैंने अवश्य सुनी कि बडे बाबूने उनसे यही कह दिया कि सम्पादकके अधिकारोमे वे हस्तक्षेप नही कर सकते। हॉ, वे अपना नाम उस पत्रपरसे हटा सकते है। इसके कुछ दिनो बाद ही उन्होने संचालकके पदसे अपना नाम हटा लिया था।

× × ×

बडे बाबू अपनी यौवनावस्थामे प्रातःकाल ५ बजेसे लेकर रातके ६ बजे तक श्रम किया करते थे। हॉ, बीचमे भोजनोपरान्त घंटे भर विश्राम अवश्य करते थे। अपनी अधेड अवस्थामे भी उन्होने दस घंटेसे कम कार्य कभी नही किया था। जिन दिनो उनकी अवस्था ७०-७१ वर्षकी थी, उनकी परिश्रमशीलताको देखकर आश्चर्य होता था। अपनी टिप्पणियोके अन्तिम प्रूफ़ वे स्वयं ही देखते थे, और

यह क्रम उन्होने अपने अन्तिम दिनों तक जारी रखा। एक बार मैने उनसे कहा, "बडे बाबू, आप ७१वें वर्षमे भी इतना श्रम कैसे कर लेते है ?"

उन्होने बड़े सकोचसे उत्तर दिया, "मै क्या परिश्रम करता हूॅ ? परिश्रम तो डाक्टर संडरलैण्ड करते है, जो ८८-८९ वर्षकी उम्रमे भी बराबर 'माडर्न रिव्यू'के लिए लिखते रहते है। हॉ, कभी मै भी मेहनत करता था। सवेरे ६से १२ तक और फिर १से ६ तक और रातको भी दो-ढाई घटे निकाल लेता था। अब मुझसे उतना काम नही होता।"

यह उनकी परिश्रमशीलताका ही परिणाम था कि उनके समयमे 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' बराबर समयपर निकलते रहे। 'माडर्न रिव्यू' निकालनेके पहले उन्होंने तीन वर्षके लिए सामग्री जुटा ली थी। एक बार उन्होने मुझसे कहा भी था, 'यदि कहीसे भी कोई लेख तीन वर्ष तक न आता तो भी 'माडर्न रिव्यू' चलता रहता।"

× × ×

बडे बाबू बहुत कम बोलते थे। एक बार लाला लाजपतरायने बर्मामे उनकी सुपुत्रीसे कहा था, "तुम्हारे पिताजी तो एकाकी जीवन पसन्द करते है।" बडे बाबू जानते थे कि अधिक बातचीतमे समय तथा शक्ति दोनोका ही अपव्यय होता है और इसीलिए उन्होंने अपनेको सभाओ तथा गोष्ठियोसे बिल्कुल अलग कर लिया था। सन् १९०७ के काग्रेस-अधिवेशनके पश्चात् उन्होंने बीस वर्षके लिए सार्वजनिक जीवनसे एक प्रकारका संन्यास-सा ले लिया था। उन बीस वर्षो की घोर तपस्याके परिणामस्वरूप 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' बॅगला और अंग्रेजोके सर्व-श्रेष्ठ मासिक पत्र बन गये थे।

"विशाल भारत"मे बडे बाबूको २०-२५ हजारका घाटा सहना पडा। एक बार जब घाटेकी रकम १५ हजारसे ऊपर पहुॅच चुकी थी, उन्होने

'विशाल भारत' को बन्द करनेका निश्चय-सा कर लिया। उस समय उन्होंने मुझे बुलाया और कहा, "पडितजी, आप जानते ही है कि मै ऋणग्रस्त हूँ। हिन्दीवाले 'विशाल भारत'को नहीं अपना रहे, इसमे मै आपका कोई अपराध नही मानता। पत्र शायद उन्हे पसन्द नही आता। अब हम लोग उसे बन्द ही क्यो न कर दे ?"

इस धर्म-सकटके अवसरपर मुझे एक युक्ति सूझ गई और मैंने तुरन्त कहा, "यह तो मेरे सम्मानका प्रश्न है। आप मुझे एक वर्ष और दे। अभी बन्द कर देंगे तो मेरी बडी बदनामी होगी और मैं कहीका नही रहूँगा! मेरा पत्रकार-जीवन प्रायः नष्ट ही हो जायगा!"

यह तर्क काम कर गया! उन्होने केवल यही कहा, "अच्छा, पडितजी, एक वर्ष और प्रयोग कर देखिये।"

उसी वर्ष पडित पद्मसिंह शर्माके स्मारक-स्वरूप एक विशेषाङ्क निकला था, और वह श्राद्ध-कार्य 'विशाल भारत'के लिए जीवनदाता ही सिद्ध हुआ। उस वर्ष घाटा बिल्कुल नही हुआ।

एक बार उत्तर भारतके एक हिन्दी पत्रमे एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमे यह कहा गया था कि 'विशाल भारत' हिन्दी भाषा-भाषियोंका शोषण करके बगालियोका पेट भरता है। बड़े बाबूके पास भी उस लेखकी कतरन पहुँची थी। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा, "पडितजी, अब आप 'विशाल भारत'को बन्द ही कर दीजिये। आप जानते ही है कि हमने 'विशाल भारत'से अबतक एक पैसा भी नहीं कमाया। बीस-पच्चीस हजारका घाटा हम दे चुके है और इस समय सत्तर हजारके ऋणी है। हम अब वृद्ध हो चुके है और शरीर काम नही देता। मैं ऋण-ग्रस्त नहीं मरना चाहता, यही मेरी एक इच्छा है। जब हिन्दीवाले हमपर इतना अविश्वास करते हैं तो फिर 'विशाल भारत' को चलानेका हममे साहस नहीं है।"

सचमुच ही उक्त पत्रके लेखकने जो आक्षेप किया था, वह नितान्त असत्य ही नहीं था, घोर हृदयहीनताका भी सूचक था।

मैंने बडी विनम्रतासे कहा, "बड़े बाबू, उक्त पत्रके सम्पादक एक नवयुवक ही है, उन्हें अनुभव नही है। उनके कथनको आप हिन्दीजगत्‌की सम्मति न मान लें।"

उन्होंने इस पत्रके सम्पादकका परिचय पूछा तो मैंने बताया कि वे अमुक सज्जनके सुपुत्र है। बडे बाबूने कहा, "उन्हे तो मैंने कायस्थ पाठशालामे पढ़ाया था। उन्होंने ऐसे अनुभवहीन युवकको सम्पादनभार क्यो सौप दिया?"

बडे बाबूको उस लेखने सचमुच बहुत उद्विग्न कर दिया था। फिर उन्होंने कहा, "अच्छा, इस अन्यायपूर्ण लेखके विपक्षमे भी किसीने लिखा?"

मैंने कहा, "अभी हिन्दीजगत्‌मे यह प्रथा नही चली कि अपने साथी पत्रपर अन्याय होते देखकर कोई उसका बचाव करे।"

बड़े बाबू बडे चिन्तित हो गये। जिसका सम्पूर्ण जीवन ही अन्यायोका प्रबल विरोध करते हुए बीता हो, उसके लिए हिन्दी पत्रकार-जगत्‌का यह प्रमाद चिन्ताका विषय अवश्य था।

हिन्दी राष्ट्रभाषा आन्दोलनके पक्षपाती न होते हुए भी बड़े बाबूने इस उद्देश्यसे 'विशाल भारत' निकाला था कि हिन्दी जनता तक शुद्ध सात्त्विक मानसिक भोजन पहुँचे। उन्होने कभी अपने किसी लेखके प्रकाशनके लिए आग्रह नहीं किया था और इस बातके लिए तो उन्होंने विशेष रूपसे आदेश दिया था कि 'विशाल भारत'मे बंगाल और बंगालियोकी प्रशंसा न छपे। जब मैंने उनके जामाता डाक्टर कालिदास नागकी थोडी-सी प्रशंसा लिख दी तो उन्होने मुझसे कहा, "लोग इस पर आशंका कर सकते है कि मैंने ऐसा कहा होगा, अथवा अपने सम्बन्धियोंकी प्रशंसा करनेके लिए पत्रका दुरुपयोग किया जा रहा है।"

मैंने यही निवेदन किया—"यह तो मेरे लिए बडा बन्धन हो जायगा। कोई व्यक्ति बंगाली है, केवल इसी कारण 'विशाल भारत'मे उसका बहिष्कार कैसे कर दूॅ?"

बडे बाबूने कहा, "आप 'विशाल भारत'मे पूर्ण स्वतन्त्र है। मै तो केवल परामर्श ही दे सकता हूॅ। आपसे कुछ अधिक अनुभव है, इस विचारसे सलाह देनेका अधिकार तो मुझे है ही। मानना आपका काम है।"

जबतक मै 'विशाल भारत' मे रहा, मुझे कभी ऐसा प्रतीत नही हुआ कि मै नौकर हूॅ। वस्तुतः मुझे पूर्ण स्वाधीनता थी। हॉ, घाटेकी पूर्तिका दायित्व बडे बाबूपर था।

× × ×

बडे बाबू अत्यन्त संकोचशील थे, सम्मानसे वे दूर ही रहते थे। जब वे ७० वर्षके हुए तो उनके प्रशंसक सार्वजनिक रूपसे उनका सम्मान करना चाहते थे, पर उन्होने केवल इतना ही स्वीकार किया कि उनके प्रेसके कर्मचारी ही व्यक्तिगत रूपसे सम्मेलन कर ले। इसीके अनुकूल बगीय साहित्य परिषद्मे एक छोटा-सा घरेलू उत्सव कर लिया गया। प्रवासी प्रेसके बगाली मित्रोंने उस उत्सवका प्रधान एक अबगालीको बनाना ही उचित समझा, और यह भार मुझे सौप दिया, जिसे मै अपने जीवनका सबसे बडा गौरव मानता हूॅ। अपनी क्षुद्रताका जितना अनुभव मुझे उस दिन हुआ, उतना शायद ही कभी हुआ हो। रामानन्दबाबूकी गणना भारतके ही नही, संसारके सर्वश्रेष्ठ सम्पादकोमे की जा सकती थी।

एक बार लीडरके सम्पादक श्री सी० वाइ० चिन्तामणिने बड़े बाबूके सम्बन्धमें लिखते हुए 'नोबलेस्ट' (महानतम), 'बैस्ट' (अतिउत्तम) इत्यादि शब्दोका प्रयोग कर दिया था। इसपर बड़े बाबूने उन्हें लिखा,

"आप तो सुविख्यात और अनुभवी पत्रकार है। ऐसी अत्युक्तिमय भाषा क्यो लिखते है ?"

× × ×

एक बार डाक्टर कालिदास नागने किसी प्रकार उनसे इतना वचन ले लिया कि मै उनसे उनके जीवनके विषयमे कुछ नोट्स ले लूँ। पर संकोचशीलतावश इस वचनको भी उन्होने वापिस ले लिया। उनके सम्बन्धमे कुछ लिखनेकी मै तैयारी कर ही रहा था कि उनका पत्र मिला—

"I have had some doubts about the propriety of any such attempt. Today my definite opinon is that I should be allowed to die first and some years after my death the thing may be done if necessary.

३० सितम्बर, सन् १९४३को बड़े बाबू हमें छोडकर चल बसे थे और आज इस बातको आठ वर्ष हो गये। वर्षोंसे मेरी इच्छा रही है कि बड़े बाबूका जीवन-चरित हिन्दी जगत्के सम्मुख प्रस्तुत करूँ। अंग्रेजी और हिन्दी दोनो भाषाओंमे उनकी एक विस्तृत जीवनी होनी ही चाहिए। उनकी सुपुत्री श्रीमती शान्तादेवीने 'भारत मुक्ति-साधक-रामानन्द चट्टोपाध्याय' नामक महत्त्वपूर्ण बॅगला ग्रन्थके प्रकाशन द्वारा इस श्राद्ध-कार्यको आगे बढाया है, पर अभी इस दिशामे बहुत-सा कार्य करना शेष है।

'विशाल भारत' तो श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायके हिन्दी-प्रेमका प्रतीक है ही, पर इस बातका परिचय कितने हिन्दी-भाषियोको है कि श्री चिन्तामणि घोषको 'सरस्वती'का प्रकाशन आरम्भ करनेकी प्रेरणा श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायसे ही प्राप्त हुई थी ? भारतीय पत्रकारोंमे वे शिरोमणि थे और उनका कोई-न-कोई स्मारक हमारे देशमे होना ही चाहिए।

आओ।" मैंने निवेदन किया, "मेरे वृद्ध माता-पिता है, कुटुम्ब है और फिर जीविकाका प्रश्न भी है।"

श्री ऐण्ड्रूजने उस समय बडी सहृदयतापूर्वक कहा, "अपने पिताजीसे कहना ऐण्ड्रूजको मेरी जरूरत है?" इन शब्दोंने मेरे पैर ही उखाड दिये और मै अपनी नौकरी छोडकर अगस्त सन् १६२० मे शान्तिनिकेतन पहुँच गया।

शान्तिनिकेतनमे मुझे चौदह महीने तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूजकी सेवामे रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा कर्तव्य था उनके प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी कार्यमे उनकी सहायता करना; पर किसीपर शासन करना मि० ऐण्ड्रूजके स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल था और प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वाधीनता देनेमे उनका दृढ विश्वास था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "तुम इसी 'वेणु-कुज' मे इसी छप्परके नीचे बैठकर मेरे विरोधमे लेख लिख सकते हो। अपनी अन्तरात्माके अनुसार जो भी ठीक जँचे वही लिखो।" जब मैं सात-साढेसात बजे उनके स्थान 'वेणु कुज' पर पहुँचता, वे दो-ढाई घटे काम कर चुके होते थे। दोपहरको भी, जब अन्य अनेक व्यक्ति विश्राम करते थे, मि० ऐण्ड्रूज अपना काम बराबर जारी रखते थे। उनके कामके घटे १४–१५ से कम कभी न होते और प्रतिदिन सर्वथा थककर जब वे कहते, "आजके दिन तो हम लोगोंने ठीक काम किया", तो मुझे अपने ऊपर लज्जा आती, क्योंकि मै छः-सात घटेसे अधिक काम कर ही नही पाता था।

शामके चार बजेका समय है। कागज और कलम लिये हुए लम्बी-लम्बी डग भरते हुए मि० ऐण्ड्रूज डाकखानेकी ओर भागे जा रहे है। डाक निकलनेका वक्त हो गया है, लेकिन चिट्ठियाँ लिखना अब तक समाप्त नही हुआ।

कभी वे आठ-आठ बार अपने ही लेखकी प्रति करते हुए नज़र आते थे, कभी घोर दोपहरीमे इधर-से-उधर जाते हुए। बॅगलामे एक लोकोक्ति है—पागल कुत्ते और अग्रेज ही दोपहरीमे भागते हुए दृष्टिगोचर होते है। इस लोकोक्तिको सुनकर श्री ऐराड्रूज खूब हँसते थे।

रातका एक बजा है। शान्तिनिकेतनमे सर्वत्र सन्नाटा है। बिजलीकी रोशनी कभीकी बन्द हो चुकी है, लेकिन 'वेणुकुज' मे प्रकाश दीख पडता है। मेजपर डिट्ज लालटैन रखे हुए श्री ऐराड्रूज लेख लिख रहे है। क्यो? कल १५ तारीख है और 'मार्डन रिव्यू' के सम्पादकने न्यूजीलैराडके प्रवासी भारतीयोंके विषयमे लेख माँगा है।

बॉसके वृक्षोके निकट एक छोटा-सा घर है। न उसमे कुछ सजावट है, न दिखावट। समाचार-पत्रोका ढेर लगा हुआ है और किताबे तितर-बितर इधर-उधर पडी है। तीन-चार कुर्सियाँ पडी हुई है और कुछ मूढ़े भी। एक-दो कुर्सियाँ तो ऐसी है जिनपर बैठना खतरेसे खाली नही। एक कुर्सीका निर्बल शरीर किसी रस्सीके बलपर थमा हुआ है। मेजपर कोई कपडा नही। उसपर माता-पिताके चित्र रखे हुए है। शान्ति-निकेतनके विद्यार्थियोंके भेंट किये हुए फूल भी है। दावात, होल्डर, चाकू, किताब, अखबार और छोटा-सा सन्दूक भी उसीपर रखा हुआ है। समाचार-पत्रोंके इस गडबड समुद्रमे श्री ऐराड्रूजका चश्मा खो गया है और घबराये हुए आप इधर-उधर तलाश कर रहे है। पूछते है, "तुमने हमारा चश्मा तो नहीं देखा?"

एक बार जब गान्धीजी कलकत्तेकी स्पेशल काग्रेसके बाद शान्ति-निकेतन पधारे थे, नियमानुसार मि० ऐराड्रूजका चश्मा खो गया। घबराते हुए वे गाधीजीके कमरेमे आये और बोले, "मै आपसे बातचीत करने आया था। कही मेरा चश्मा तो नही रह गया?" मौलाना शौकतअलीके चश्मेका घर वही रखा हुआ था। गाधीजीने मि० ऐराड्रूजसे कहा, "देखिये,

यह तो नहीं है?" मि० ऐण्ड्रूजने चश्मा निकालकर लगा लिया और कहा, "हॉ, बस यही है।" फिर आपने उस चश्मेके घरमें रखा हुआ एक तार देखा, जो मौलानाके नाम था। तब आप बोले, "यह चश्मा मेरा नहीं है। यह तो मौलाना शौकतअलीका होगा।" गाधीजी और पूज्य कस्तूरबा इत्यादि जो भी व्यक्ति वहॉ उपस्थित थे, खूब खिलखिलाकर हॅसने लगे। फिर बाने एक चश्मेका घर देते हुए कहा, "देखो, इसमे तो नहीं है तुम्हारा चश्मा?"

श्री ऐण्ड्रूजने चश्मेका घर खोला तो उसमे कोई चश्मा था ही नहीं। वह खाली था। श्री ऐण्ड्रूज लज्जित हो गये और फिर अट्टहास हुआ! गाधीजीको खूब हॅसते हुए देखकर मि० ऐण्ड्रूज बोले, "मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हॅस रहे है। इसमे हॅसनेकी कौन-सी बात है?" गाधीजीने फिर हॅसकर कहा, "चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हमारे लिए तो यह हॅसीकी बात ही है।"

एक बार मि० ऐण्ड्रूजको ज्वर आ गया, पर उस दशामे भी उन्हें विश्राम कहॉ! उन्होंने बोलकर तीस-बत्तीस पत्र लिख डाले!

यह देखकर अत्यन्त दुःख होता था कि बहुत दिनो तक हमारे देशवासी मि० ऐण्ड्रूज़को ब्रिटिश सरकारका खुफिया ही समझते रहे और उधर भारत सरकार भी उनपर निरन्तर अविश्वास ही करती रही। जहॉ कहीं वे जाते, सी० आई० डी० के आदमी उनका पीछा करते। सन् १६०७ मे उन्होंने खुद एक आदमीको, जो खुफिया पुलिसका था, रॅगे हाथ पकड लिया था। वह उनकी मेजकी दराजमे हाथ डाले हुए था। जब मि० ऐण्ड्रूज़ने उसे धमकाया तो डरकर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया कि पुलिस विभागने उसे भेजा था। जब मि० एण्ड्रूज़ने दिल्लीके कमिश्नर साहबको इस बारेमे क्रोधपूर्ण पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, "वह आदमी मेरी पुलिसका नहीं था।"

पूर्व अफ्रीकामें तो रेल-यात्राके समय एक स्टेशनपर गोरे लोगोंने मि० ऐण्ड्रूज़की बडी दुर्दशा की थी। उनको अपने डिब्बेसे घसीटकर वे प्लेटफार्मपर लाना चाहते थे और मि० ऐण्ड्रूज़ने लोहेकी जंजीर पकड रखी थी। उनकी दाढी पकडकर खूब नोची गई। इस दुर्घटनासे उन्हे ज्वर हो आया था। बादको यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लामेंटमे भी उठाया गया था।

शान्तिनिकेतनमे भी कितने ही व्यक्ति मि० ऐण्ड्रूजपर अविश्वास करते थे और महात्माजीने इस अविश्वासको अनेक अंशोमे दूर किया था।

एक बार पूर्व अफ्रीकाके 'डेमोक्रेट' नामक भारतीय पत्रने मि०ऐण्ड्रूज़पर यही नीचतापूर्ण आक्षेप इतने भद्दे ढंगपर किया था कि वे तिलमिला उठे थे। फिर अमेरिकामे भी यही हुआ था। पर वे इस निन्दाके अभ्यस्त हो चुके थे और उन्होने उसे शान्तिपूर्वक सहनेका ही प्रयत्न किया। फरवरी १९३० मे उन्होने अपने पत्रमें मुझे लिखा था—

"दरअसल लोगोंमे मेल-जोल कराना बहुत ही मुश्किल काम है। पर यह किसने कहा था कि यह आसान होगा ? मैने अपने ऊपर किये हुए इस आक्षेपके बारेमे किसीको नही लिखा, क्योकि उसे भुला देना ही ठीक होगा। दुर्भाग्यकी बात है कि इस प्रकारके आक्षेपसे महान् अहित होगा, यद्यपि अन्तमे इससे कुछ भलाई ही होगी। मुझे एक बातकी खुशी है, वह यह कि इस बार मै वैसा उद्विग्न नहीं हुआ, जैसा पूर्व अफ्रीकाके 'डेमोक्रेट' वाले मामलेमे हुआ था। इस बार मै धैर्य धारण कर सका और शान्त भी रहा और गीता तथा 'निष्काम कर्म' की महिमाको इस बार मैने बेहतर तौर पर समझा।"

इस प्रकारके अविश्वासमय वातावरणमे मि० ऐण्ड्रूज़को बहुत वर्षों तक काम करना पड़ा। उनके जीवनके पूरे ३६ वर्ष भारतभूमिकी सेवा करते हुए बीते। यदि उनकी समस्त सेवाका पूरा-पूरा विवरण तैयार किया

जाय तो भारतके इने-गिने नेताओंको छोडकर मि०ऐएड्रूज़का कार्य किसीसे भी पीछे न रहेगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ भारतीय नेता स्वदेशके लिए तप और त्याग कर रहे थे, श्री ऐएड्रूजने मनुष्यताके उच्चतर धरातलपर इस भूमिकी सेवा की थी।

सन् १६२० मे गाधीजीने 'भारतभक्त ऐएड्रूज' की भूमिकामे लिखा था—"यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपना यह विश्वास लिपिबद्ध कर देना चाहता हूँ कि सी० एफ० एएड्रूजसे ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमिमे कोई दूसरा देशसेवक विद्यमान नही।"

और हमारे प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूने भी आत्मचरितमे बडी श्रद्धापूर्वक इस बातका जिक्र किया है कि मि० ऐएड्रूजकी पुस्तक 'इडि-यन इडिपेडेस—इट्स इमीडिएट नीड' (भारतीय स्वाधीनता और इसकी तुरन्त आवश्यकता) ने भारतीय भावनाओंको बड़ी खूबीके साथ प्रकट करके भारतीयोंकी हृत्तन्त्रीको झंकृत कर दिया था।

यह बात भी भूलनेकी नही है कि दो बार मि०ऐएड्रूजने महात्माजीके उपवासके दिनोमे उनके प्राण बचानेमे बडी भारी सहायता दी थी। जब बन्धुवर श्री श्रीराम शर्माने सेवाग्राममे महात्माजीसे पूछा, "ऐएड्रूज साहबने भारतकी जो सेवाएँ की है, उनमे मुख्य क्या है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे पास अवकाश हो तो मैं उसका गुणगान जिन्दगी भर करूँ।"

जनवरी सन् १६४० में मुझे शान्तिनिकेतन जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी लाइब्रेरीके मन्त्री श्रीयुत धावलेजी मेरे साथ थे। इस बार मैने अपने कैमरेसे दीनबन्धु ऐएड्रूजके कई चित्र लिये थे। अकस्मात् एक दिन मेरे मुँहसे निकल गया, "आज तो मेरा जन्म-दिवस है।" मैं यों ही मजाक कर रहा था, यद्यपि वह था जन्म-दिवस ही। मि० ऐएड्रूज

बोले, "तो मै तुम्हें अच्छी चाय पिलाऊँगा और कुछ भेंट भी दूँगा।" मैंने इसे मजाक ही समझा, पर मि० ऐण्ड्रूजने सचमुच बहुत बढिया चाय बनवाई और उसके साथ मिठाई और फलोंका भी प्रबन्ध किया। मुझे अपने मजाकपर लज्जित होना पडा, पर चौबे होनेके कारण मैं मिठाईका मोह छोड नही सका। मैने डटकर भोजन किया। उस दिन भी मि० ऐण्ड्रूज दिन भर एक लेख लिखते रहे, जो शान्तिनिकेतनके हिन्दी-भवनपर था और जब शामको मै पहुँचा तो कहा, "यह भेंट तुम्हारे जन्मदिवसके लिए है।" और फिर एक दूसरी भेंट भी दी, वह थी 'क्राइस्ट इन साइलेंस' ('शांतिमें ईसा') नामक अपनी पुस्तक।

अपनी भूलसे मै उस ग्रन्थको उनकी मेजपर ही छोड आया। रातको साढे आठ बजे थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा बन्धुवर हजारीप्रसादजी द्विवेदीके साथ मै हिन्दी-भवनमे बैठा हुआ था कि उधरसे लालटेन हाथमे लिये श्रीऐण्ड्रूज आते हुए नज़र आये। पहुँचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वहीं छोड आये थे! और फिर द्विवेदीजीको मेरे जन्मदिवसकी बात भी सुना दी। द्विवेदीजीको भी मजाक सूझा। वे बोले, "इन्होंने हमें बताया भी नहीं, चुपचाप ही सब मिठाई खा ली!" खूब हँसी हुई। मेरी छडी वहीं रखी थी। श्री ऐण्ड्रूजने उसे उठाकर पीठपर छुआते हुए कहा—"यह भूल तुमने क्यों की? अपने जन्मदिवसकी बात इनसे क्यों छिपाई?" हम सब खूब हँसते रहे।

अपनी लालटेन लिये हुए मि० ऐण्ड्रूज अपनी कुटीको लौट गये। आचार्य क्षितिमोहन सेनने कहा, "कितने प्रेमी जीव है ये!" मै उन्हें जाते हुए देख रहा था। वही उनके अन्तिम दर्शन थे। उस दिन १२ जनवरी थी। ५ अप्रैल १९४० को उनका देहान्त हो गया।

अप्रैल १९५०]

●

स्वर्गीय प्रेमचंदजी

"मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बडी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-सग्राममे विजयी हो। धन या यशकी लालसा मुझे नही रही। खाने भरको मिल ही जाता है। मोटर और बॅगलेकी मुझे हविस नही। हॉ, यह जरूर चाहता हूॅ कि दो-चार ऊॅची कोटिकी पुस्तके लिखूॅ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनो लडकोके विषयमे कोई बडी लालसा नहीं है। यही चाहता हूॅ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादेके हो। विलासी, धनी खुशामदी सन्तानसे मुझे घृणा है। मै शान्तिसे बैठना भी नही चाहता। साहित्य और स्वदेशके लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूॅ। हॉ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपडे मयस्सर होते रहें।"

[प्रेमचन्दजीके ३--६--३० के पत्रसे]

"जो व्यक्ति धन-सम्पदामें विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुष होनेकी मै कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मै किसी आदमीको धनी पाता हूॅ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ताकी बातोंका प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पडता है कि इस शख्सने मौजूदा सामाजिक व्यवस्थाको—उस सामाजिक व्यवस्थाको, जो अमीरों द्वारा गरीबोंके दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमीका नाम, जो लक्ष्मीका कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नही करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मनके इन भावोका कारण जीवनमें मेरी निजी असफलता ही हो। बैंकमें अपने नाममें मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे है—मै भी प्रलोभनका सामना

न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मतने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रोंके साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"[१]

प्रेमचन्दजीकी याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रोका, जो ५॥ वर्ष के अन्तरपर लिखे गये थे, स्मरण हो आया। ये दोनो पत्र प्रेमचन्दजीके जीवनके उद्देश्यों और उनकी आकाक्षाओंको प्रकट करते है। यदि प्रेमचन्दजीने सरकारी नौकरी न छोडी होती, तो वे डिप्टी इन्सपैक्टर ऑफ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट इन्सपैक्टर होकर रिटायर होते, पर उन्होंने त्याग और तपका जीवन अगीकार किया था और अपनी आकाक्षाओंको 'रोटी-दाल, तोला भर घी और मामूली कपडे' तक ही सीमित कर लिया था।

---

१ "I cannot imagine a great man rolling in wealth. The moment I see a man rich, all his words of art and wisdom are lost upon me. He appears to me to have submitted to the present social order, which is based on exploitation of the poor by the rich. Thus any great name not dissociated with mammon does not attract me It is quite probable this frame of mind may be due to my own failure in life. With a handsome credit balance I might have been just as others are—I could not have resisted the temptation. But I am glad nature and fortune have helped me and my lot is cast with the poor. It gives me spiritual relief."

[प्रेमचन्दजीके १-१२-३५ के पत्रका एक अश]

ग़रीबीके इस व्रतको ग्रहण करनेके कारण ही वे हमारे साहित्यके लिए ऐसे अमर ग्रन्थ प्रदान कर गये, जिनकी वजहसे हम आज अन्य भाषा-भाषियोंके सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा कर सकते है।

इन पंक्तियोंके लेखकपर प्रेमचन्दजीकी कृपा थी, और वह अपने जीवनके पवित्रतम संस्मरणोमे प्रेमचन्दजीकी स्मृतिकी गणना करता है। सन् १९२४ की बात है। प्रेमचन्दजीके प्रथम-दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे लखनऊमे प्राप्त हुआ था। उन दिनो वे शायद 'रंगभूमि' नामक उपन्यास लिख रहे थे। उनके घरपर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कोपर कुछ दूर प्रातः कालके समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपनी बाल्यावस्थाके अनुभव, जब कि वे किसी मौलवी साहबसे पढते थे, सुनाये थे। प्रेमचन्दजीके एक गुणने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था, वह था उनमे साम्प्रदायिकताका सर्वथा अभाव। हिन्दू-मुस्लिम एकताके वे बड़े हामी थे, और दोनोके सास्कृतिक मेलके लिए उन्होंने जीवन-भर परिश्रम भी किया था। उस थोडे-से समयमे, जो उनके साथ व्यतीत हुआ, प्रायः इसी विषयपर बातचीत होती रही।

इसके बाद पिछले बारह वर्षमें प्रेमचन्दजीसे मिलनेके दो तीन अवसर और मिले और पत्र-व्यवहार तो निरन्तर चलता रहा। बात-चीतकी तरह उनका पत्र-व्यवहार भी दिल खोलकर होता था। दिसम्बर १९३२ मे उनके साथ काशीमे दो दिन तक रहनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इन दो दिनोंमें एक दिन तो प्रातः कालके ११ बजेसे रातके १० बजे तक और दूसरे दिन सबेरेसे शामतक वे अपना सब काम छोडकर मुझसे बात-चीत करते रहे। इन दो दिनोंमें वे सैकडो बार ही हँसे होगे और सैकडों बार ही उन्होने मुझे हँसाया होगा। उनकी जिन्दादिलीका क्या कहना!

फिर कलकत्ते लौटनेपर एक चिट्ठीमे मैने प्रेमचन्दजीको मजाकमे लिखा कि आप श्रीमती शिवरानी देवीजीको एक रिस्टवाच क्यो नही खरीद देते ? इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्दजीने लिखा—

"As to her wrist watch, well, when some enterprising journalist begins to pay her for her contributions she will manage for herself or may be some one may present her with one!"

—'रही उनकी रिस्टवाचकी बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओंके लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा तो, वे खुद अपने लिए रिस्टवाच खरीद लेगी या शायद कोई उन्हे एक रिस्टवाच भेट ही कर दे !'

× × ×

प्रेमचन्दजीको कलकत्ते बुलाने और शान्तिनिकेतन ले जानेके लिए कई बार मैने प्रयत्न किया, पर सफल नही हो सका। जब कविवर नागूची जापानसे कलकत्ते पधारे थे, तो मैने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भी आवे। उसके उत्तरमे उन्होने लिखा था—

"I had your card and thank for it. How I wish I could attend Naguchi's lectures but can't help. How to leave the family is the problem. The boys are at Allahabad and when I go my better-half must feel so lonely and helpless. If I take her with me, I must have a decent amount to spend. So it is better to be tied down to home than feel the pinch of money."

—'आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कविवर नागूचीके भाषण सुन पाता। पर लाचारी है।

घरवालोको यहाँ कैसे अकेला छोड दूँ, यही प्रश्न है। लडके इलाहाबादमे है, और यदि मै बाहर चला जाऊँ, तो मेरी स्त्रीको सूना-सूना-सा लगेगा। और अगर मै उन्हे साथ लाऊँ, तो खर्चके लिए मेरे पास काफी पैसे चाहिएँ। इसलिए आर्थिक सकटका सामना करनेके बजाय यही उत्तमतर है कि मै घरपर ही बँधा रहूँ।'

शान्ति-निकेतन भी वे इसी कारण नही जा सके थे।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथसे प्रेमचन्दजीका जिक्र अनेक बार आया था, और उन्होंने कई बार कहा था कि प्रेमचन्दजीकी चुनी हुई कहानियोंका अनुवाद बॅगलामे होना चाहिए। बॅगलाके हास्यरसके सुप्रसिद्ध लेखक श्री परशुराम (श्री राजशेखर बोस) ने भी प्रेमचन्दजीकी कई कहानियाँ पढी थी और 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी उन्हें खास तौरपर पसन्द आई थी।

प्रेमचन्दजी जितने हिन्दीवालोंके थे, उतने ही उर्दूवालोंके भी थे। इस विषयमें उनकी स्थिति अद्वितीय थी। गत वर्ष जब पानीपतमे हाली-शताब्दीमे सम्मिलित होनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था, तो वहाँ उर्दूके कई प्रतिष्ठित लेखकों तथा कवियोंसे प्रेमचन्दजीका जिक्र आया था। उर्दूके एक विद्वान् लेखकने कहा भी था—"प्रेमचन्दजी तो उर्दूके Classic हो गये हैं। वे तो हमारे ही है।"

सी० एफ० ऐण्ड्रूज़से प्रेमचन्दजीकी चर्चा कई बार हुई थी। उन्होने प्रेमचन्दजीकी एक कहानी 'तारा' के अंग्रेजी अनुवाद Actress का संशोधन कर दिया था, और यह कहानी 'माडर्न रिव्यू' मे छपी भी थी। मि० ऐण्ड्रूज़ प्रेमचन्दजीसे मिलनेके उत्सुक थे, और उनके आदेशानुसार शान्ति-निकेतनसे लिखा भी गया था कि वे कलकत्ते पधारें, जहाँ कि मि०ऐण्ड्रूज़ स्वयं आ रहे थे, पर प्रेमचन्दजी नहीं आ सके। मि० ऐण्ड्रूज़ प्रेमचन्दजी-

की कहानियोंके अंग्रेजी अनुवादके संशोधन करनेके लिए और उनके प्रकाशित करानेके लिए तैयार थे। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचन्दजी अपनी रचनाओंके अनुवादके विषयमे बिलकुल उपेक्षाकी नीतिसे काम लेते थे। मै उनकी इस नीतिका घोर विरोधी था। मैने उनकी सेवामे निवेदन भी किया था कि आपकी रचनाओंका अंग्रेजी अनुवाद आपको कीर्ति देनेके लिए नही, बल्कि सभ्य जगत्‌के सम्मुख हिन्दीवालोंका गौरव बढानेके लिए होना चाहिए। पत्रके उत्तरमे उन्होने लिखा था—

"I feel very much obliged to receive your letters and the kind interest you take in my work. But unless I can secure a competent translator it is no good to trouble Father Andrews for nothing. The time is not yet, perhaps. when the time will come helpers would spring up."

—"आपके पत्रके लिए और आप मेरी रचनाओंमे जो दिलचस्पी लेते है, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, लेकिन जब तक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाय, तब तक पादरी ऐण्ड्रूज़ साहबको व्यर्थके लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिए वक्त ही नही आया, और जब कभी वक़्त आवेगा, तो मददगार भी कहीं-न-कहींसे निकल ही आवेंगे।"

यह असम्भव है कि प्रेमचन्दजीकी चुनी हुई रचनाओंका अनुवाद अंग्रेजीमे न हो, क्योंकि वर्तमान भारतीय समाजका जैसा जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओंमे मिलता है, वैसा अन्यत्र शायद ही मिले। कभी-न कभी अंग्रेजी जाननेवाली जनता प्रेमचन्दजीकी रचनाओंका स्वाद अपनी भाषामें लेनेका प्रयत्न करेगी ही पर यह सौभाग्यपूर्ण अवसर प्रेम-चन्दजीके जीवनमें ही आ जाता, तो कितनी अच्छी बात होती!

यद्यपि प्रेमचन्दजी अपनी रचनाओंके अंग्रेजी अनुवादके विषयमे उदासीन-से थे, पर अंग्रेजी जनताके सम्मुख हिन्दीवालोकी रचनाएँ तथा व्यक्तित्वके प्रकाशनको आवश्यक समझते थे। एक बार श्रीराय कृष्णदास-जीके मकानपर (शायद यह द्विवेदी-अभिनन्दन-उत्सवका अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि 'लीडर' इत्यादि पत्रोमे इस विषयपर लिखा करो।

× × ×

प्रेमचन्दजी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरोंपर अपनी लेखनीपर संयम रखना उन्हे पसन्द नहीं था। इस विषयमे वे स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्माकी नीतिका अवलम्बन करते थे। स्वर्गीय शर्माजीकी पुस्तक 'पद्मपराग'की आलोचना करते हुए मैंने 'विशाल भारत' मे लिखा था—"हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अन्तमे अपने उद्देश्यमे विफल होते है। उनके प्रयोगसे इस बातकी आशंका रहती है कि कहीं असाधारण कठोरताके कारण पाठककी सहानुभूति उस व्यक्तिके प्रति न हो जाय, जिसके प्रति उन शब्दोका प्रयोग किया गया है।"

इसका उत्तर देते हुए शर्माजीने लिखा था—"मुझे डर है कि कृत्रिम —बनावटी—शान्तिके खब्तमे आप लोग—गान्धीपन्थी—वीर, रौद्र और भयानक रसोका सर्वथा लोप करना चाहते है, जो एकदम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी, नृशस और क्रूर आदमीकी करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है, फिर उसे प्रकट करना क्यो अधर्म है ? यह तो एक तरहकी मक्कारी है कि किसी दुष्टपर क्रोध तो आवे इतना कि वह बेताब कर दे, पर उसे शब्दोमे प्रकट न किया जाय! ऐसा न आज तक हुआ है, न आगे कभी होगा। साहित्यमे सब रस सदासे रहे है और सदा रहेगे। भेडियोके आगे हाथ-पॉव बॉधकर पड रहनेका

मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी कालमे व्यवहार्य नही समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य-संस्कृतिके विरुद्ध है। अस्तु, आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवंचक लोगोकी जितनी भी कडी भर्त्सना की जाय, उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुनकर भू-भ्रमणवादी गैलिलियोने जजसे कहा था—'आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है, ज़रा भी तो नही रुकी।' आपका फैसला सुनकर मै भी यही अर्ज करता हूँ कि जनाब ! धूर्त और नृशंस व्यक्तिकी पोल खोलना, शब्दोके कोडे लगाना, आजसे हजार बरस बाद भी विहित समझा जायगा, इसमे ज़रा भी फर्क नही आयगा। आप लोगोके इस क्लीव-क्रन्दनको—शान्ति-पाठको—कोई न सुनेगा।"

जब श्रीयुत प्रेमचन्दजीको मैने उनके एक लेखकी कठोरताके विषयमे लिखा, तो उन्होने उत्तरमे वैसे ही भाव प्रकट किये, जो शर्माजीके पत्रमे हैं, पर स्वर्गीय शर्माजी तथा प्रेमचन्दजीके प्रति काफी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दोका प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्दजीने फिर कठोर शब्दोका प्रयोग किया, तो मैने फिर उनकी सेवामे निवेदन किया। अबकी बार वे मेरी बातसे कुछ-कुछ सहमत हो गये। उन्होने अपने पत्रमे लिखा था—

"I am really grateful to you for your most friendly advice. I Cherish no ill will against the person. I rather feel for him. But Hindi readers are too shallow and uncritical that they are always led to believe in the most nonsensical things dinned into their ears. One must tell them the truth. But I shall exercise greater control henceforth."

——'आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाहके लिए मै आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्तिके प्रति मेरे हृदयमे कोई द्वेष नही है, बल्कि मै उसके लिए दुःखित हूँ, पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी-पाठक इतने उथले है और सदसद्विवेक-बुद्धिकी उनमे इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानोंमें कोई डाल दे, वे उसीपर विश्वास करनेके लिए तैयार हो जाते है। हिन्दी-पाठकोको तो यह निरन्तर बतलानेकी जरूरत है कि सत्य क्या है, लेकिन भविष्यमें मै अधिक संयमसे काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद्का मुखपत्र बना दिया गया, तो प्रेमचन्दजीने छपे हुए सूचना-पत्रको भेजते समय उसपर लाल स्याहीसे लिख भेजा—

"मुंशीजी (श्री कन्हैयालाल मुंशी) ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा सवाल है।

"फ़कीरका सवाल है सभीके ऊपर ;
ज़ुल्म ना ज़ियादती किसीके ऊपर।"

'हंस'के विषयमें उन्होंने बहुत-से पत्र हिन्दी और उर्दू-लेखकोंको लिखे थे। उर्दू-लेखकोंने तो सहृदयतापूर्वक उनके पत्रोका स्वागत किया और उत्तर भी दिये; पर हिन्दीके महारथियोंने जो-कुछ किया, वह उन्हीके शब्दोंमें सुन लीजिए—

"Urdu writers have replied to my invitation promptly and courteously, whereas I have received few replies to the numerous letters I have written to Hindi Maharathis. B. Maithili Sharanji has been the only person to respond, others have not even acknowledged the letters. This is the mentality of our Hindi writers."

—'उर्दू-लेखकोने तो मेरे निमन्त्रणका तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक जवाब दिया है, लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैने हिन्दीके महारथियोकी सेवामे भेजी थी, उनमे बहुत कमके जवाब आये है! अकेले बाबू मैथिली-शरणजी ही एक ऐसे व्यक्ति है, जिन्होने उत्तर दिया है, दूसरोने तो चिट्ठीकी स्वीकृति भी नही लिखी! हमारे हिन्दी-लेखकोकी यह मनोवृत्ति है।'

'जागरण'के मजाकके कालमोमे दो-एक बाते मेरे खिलाफ निकल गई थी। मैने उनकी शिकायत की। उसके उत्तरमे प्रेमचन्दजीने एक बडा प्रेमपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्रके प्रशंसामय अंशोको छोडकर कुछ बाते यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

"जब कभी मौका पड़ा है, मै हमेशा आपका पक्ष लेकर लडा हूँ, और मैने आपको उसी दृष्टिसे लोगोके सम्मुख उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है, जिस दृष्टिसे मै आपको देखता हूँ। मै इस बातसे इनकार नही करता कि साहित्य-सेवियोंमे कुछ लोग ऐसे हैं, जो आपको बदनाम करते है और आपकी ईमानदारीको भी माननेको तैयार नही होते। इतना ही नही, कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ जाते है! लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसके छिद्रान्वेषी न हो? मै स्वयं निन्दकोंसे घिरा हुआ हूँ, जो मुझपर हमला करनेका कोई मौका नही चूकते। दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारोमे न तो विचारोंकी व्यापकता—उदारता—है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा हो गया है, जिसे दूसरोंकी वर्षोंके परिश्रमसे अर्जित कीर्तिको मटियामेट करनेमे ही मजा आता है। हमे अपनी आत्माको पवित्र रखना चाहिए, और यही सबसे बड़ी बात है। जान पड़ता है कि आप मजाकके छींटोंको प्रायः गम्भीर मान बैठते है··· लेकिन जब कभी कोई किसीके उद्देश्यको ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसीके उद्देश्यपर शक करनेको मैं

किसी भी हालतमें सहन नहीं कर सकता। निर्दोष छीटोंकी आपको परवा न करनी चाहिए। यदि आप इतने सहनशील हो जायेंगे, तब तो आप अपने निन्दकोंको और भी उत्साहित करेंगे कि वे आपकी पीठमें काँटे चुभोयें। खिले हुए चेहरेसे आप उन लोगोंका सामना कीजिए। एक जमाना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण हमलेसे मुझे कई-कई रात नींद न न आती थी, लेकिन वह जमाना गुज़र चुका है, और अब मैं अपने-आपको ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।"[१]

---

१ I have always fought on your behalf whenever any occasion has risen and have tried to interpret you as I see you. I do not deny that among literary men there are some who disparage you and do not give you the credit for honesty of purpose. Nay, some go for more than that. But who has not got cavillers ? I myself am surrounded by decoraters, who would not miss an opportunity to hit me. Unfortunately our literary workers have not got the breadth of view and the spirit of fellowship. There is a class of men who delight in ruining the reputation others have taken years to build up. But what of that ? We have got to keep our conscience clear and it is all that matters. You seem to take the humorous touches rather too seriously.... .The matter grows serious when one imputes motives. This I would never tolerate in any case. Innocent flings you need not mind. If you are so touchy, you will give an impetus to detractors to prick your back. Face them

मै एक लेख लिखना चाहता था—'भविष्य किनका है ?' और उस लेखमें हिन्दीके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंके प्रतिभाशाली कार्यकर्ताओका सक्षिप्त परिचय देना चाहता था। इस विषयपर मैंने प्रेमचन्दजीकी सम्मति पूछी थी, सो उन्होने विस्तारपूर्वक लिख भेजी थी।

× × ×

सन् १९३०मे मैंने एक पत्रमें उनसे बहुत-से प्रश्न किये थे। उनमे कुछ प्रश्न ये थे—(१) आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था ? (२) आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पे कौन-कौन है ? (३) आपपर किस लेखककी शैलीका प्रभाव विशेष पडा ? (४) आपको अपनी रचनाओसे अब तक कितनी आय हुई है ? इन प्रश्नोके उत्तरमे प्रेमचन्दजीने लिख भेजा था—

"(१) मैंने १९०७मे गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १९०८मे मेरा 'सोजेवतन', जो पॉच कहानियोका संग्रह है, जमाना-प्रेससे निकला था, पर उसे हमीरपुरके कलक्टरने मुझसे लेकर जला डाला था। उनके खयालमे वह विद्रोहात्मक था, हालॉ कि तबसे उसका अनुवाद कई सग्रहों और पत्रिकाओमे निकल चुका है।

(२) इस प्रश्नका जवाब देना कठिन है। २००से ऊपर गल्पोमे कहॉ तक चुनूॅ, लेकिन स्मृतिसे काम लेकर लिखता हूॅ—(१) बडे घरकी बेटी, (२) रानी सारधा, (३) नमकका दारोगा, (४) सौत, (५) आभूषण, (६) प्रायश्चित्त, (७) कामना, (८) मन्दिर और मसजिद, (९) घासवाली, (१०) महातीर्थ, (११) सत्याग्रह, (१२) लाछन, (१३) सती, (१४) लैला और (१५) मन्त्र।

---

with a smile upon your face. There was a time when an unfriendly cut kept me awake nights together. But that stage has passed and I know myself much better now."

(३) मेरे ऊपर किसी विशेष लेखककी शैलीका प्रभाव नही पडा। बहुत-कुछ प० रतननाथ दर लखनवी और कुछ-कुछ डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुरका असर पडा है।

(४) आयकी कुछ न पूछिये। पहलेकी सब किताबोका अधिकार प्रकाशकोंको दे दिया। 'प्रेम-पचीसी', 'सेवासदन', 'सप्त-सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम' आदिके लिए एक मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी-पुस्तक एजेन्सीने दिये। 'नवनिधि'के लिए शायद अब तक २००) मिले है। 'रगभूमि'के लिए १८००) दुलारेलालजीने दिये। और सग्रहोंके लिए सौ-दो-सौ मिल गये। 'कायाकल्प', 'आजाद कथा', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा' मैने खुद छापी, पर अभी तक मुश्किलसे ६००) रुपये वसूल हुए है, और प्रतियॉ पडी हुई हैं। फुटकर आमदनी लेखोसे शायद २५) माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नही होती। मै अब इस ओर 'माधुरी'के सिवा कही लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती'मे लिखता हूॅ। बस। उर्दू-अनुवादोंसे भी अब तक शायद दो हजारसे अधिक न मिला होगा। ८००) में 'रगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनोका अनुवाद दे दिया था। कोई छापनेवाला ही न मिलता था।"

'हंस' और 'जागरण'मे प्रेमचन्दजीको निरन्तर घाटा ही होता रहा, और कभी-कभी तो यह घाटा दो सौ रुपये महीनेसे भी अधिकका हो जाता था। इसके कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहते थे—

"It is a pity none of my ventures are yet paying their way. Hans is not costing me much, but Jagaran is proving unbearable. How to get out of the situation is taxing my brains. I am losing some Rs 200 every month. How long can this go on? Having

done the folly of starting it once, sanity stands in the way of putting an end to it. How will others chuckle and giggle?.. ...If I had the courage to stop these journals I would be saved all this worry, but I cannot master it...... "

—'खेदकी बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस'मे मुझे बहुत नही खर्च करना पडता; लेकिन 'जागरण'का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझटसे निकला कैसे जाय, इसी चिन्तामे दिमाग़ चक्कर खा रहा है। मै करीबन २००) प्रतिमास घाटा दे रहा हूँ। यह कब तक चल सकता है? एक बार इसे जारी करनेकी मूर्खता कर चुकनेके बाद अब इसका खात्मा करनेमे मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इसपर कैसे हँसेंगे और खिल्ली उडायेंगे? ·· यदि मुझमे दोनों पत्रोको बन्द कर देनेकी हिम्मत होती, तो मैं इन तमाम परेशानियोसे बच जाता, लेकिन मै इतनी हिम्मत इकट्ठी नही कर पाता।'

मेरी यह आकाक्षा कि कभी प्रेमचन्दजी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथको बातचीत करते हुए सुनूँ, मनकी मनमे ही रह गई! प्रेमचन्दजीको शान्ति-निकेतन बुलानेके लिए कई बार प्रयत्न किया, पर इसमें मुझे सफलता नही मिली। एक बार तो मुझे यह आशंका हो गई थी कि उन्होंने जान-बूझकर मेरे निमन्त्रणकी उपेक्षा की है। जब काशीमे जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शान्ति-निकेतन क्यों नही गये, तब उन्होंने बतलाया कि वे अपनी धर्मपत्नी तथा बच्चोंको छोडकर अकेले कविवरके दर्शनार्थ नही जाना चाहते थे और इतना पैसा उनके पास था नही कि सबकी यात्राका प्रबन्ध कर सकते! हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कलाकारकी इस आर्थिक परिस्थितिको

सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ था। उस समय मैने 'विशाल भारत'मे लिखा था—

"प्रेमचन्दजीको अपनी पुस्तकोसे जो आमदनी होती है, उसका एक अच्छा भाग 'हस' और 'जागरण'के घाटेमे चला जाता है। कितने ही पाठकोका यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्दजी अपने ग्रन्थोंके कारण धनवान हो गये होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दीवालोंके लिए सचमुच यह कलककी बात है कि उन-जैसे सर्वश्रेष्ठ कलाकारको आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमे कुछ दोष प्रेमचन्दजीका भी है, जो अपनी प्रबन्ध-शक्तिके लिए प्रसिद्ध नही और जिनके व्यक्तित्वमे वह लोह दृढता भी नही, जो उन्हें साधारण कोटिके आदमियोके शिकार बननेसे बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी-जनता अपने अपराधसे मुक्त नही हो सकती। हमे इस बातकी आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्यके इतिहास-लेखकको कहीं यह न लिखना पड़े—'दैवने हिन्दीवालोंको एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।" वे पक्तियाँ जनवरी सन् १९३२ मे लिखी गई थी। दुर्भाग्यवश वे सत्य प्रमाणित रही है।

प्रेमचन्दजीके जीवनमे हम लोग उनका कुछ भी सम्मान न कर सके, यद्यपि वे खुद सम्मानके भूखे नहीं थे। जब नागपुर-सम्मेलनके अवसरपर मैने उनके सभापति होनेका प्रस्ताव 'विशाल भारत'में किया था, तो उन्होंने एक पत्रमे मुझे अपनी अनिच्छा तथा उदासीनताका वृत्तान्त लिख भेजा था, पर हम लोगोंका तो कर्तव्य था कि उनका सम्मान करके स्वय अपनेको तथा अपनी संस्थाको गौरवान्वित करते।

प्रेमचन्दजीकी विद्वत्ता, प्रतिभा अथवा लेखन-शक्तिके विषयमे कुछ लिखनेके लिए यहाँ न तो स्थान ही है और न इन पंक्तियोंके लेखकमे

इतनी योग्यता है कि वह इस गम्भीर कार्यको सफलतापूर्वक कर सके। हाँ, प्रेमचन्दजीकी सहृदयताके विषयमे दो शब्द वह अवश्य कह सकता है। पिछली बार जब वे आगरे आये थे, तो मेरे छोटे भाई रामनारायणसे, जो आगरा-कालेजमे इतिहासका अध्यापक था, अत्यन्त स्नेहपूर्वक मिले और मेरी लडकीको श्रीमती शिवरानी देवीजी अपने साथ ही लिये रहीं। काशी लौटकर प्रेमचन्दजीने मुझे लिखा था—"You are extremely fortunate in having such a good brother."—ऐसे अच्छे भाईको पाकर आप अत्यन्त सौभाग्यशाली है।' और प्रेमचन्दजी-का कृपा-पात्र होना भी मेरे लिए कम सौभाग्यकी बात नही थी। गत ५ अक्तूबरको छोटे भाईका देहान्त हो गया और तीन दिन बाद प्रेमचन्द-जीका स्वर्गवास।

मेरा दुर्भाग्य।

नवम्बर, १९३६]

श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी'

"चित्तौरसे खडवा जा रहा हूँ। इन्दौर स्टेशन बीचमे पडेगा। आप मुझसे वही मिलिये। गाडी सवेरे पहुँचती है।" सन् १९१५ मे श्रद्धेय गणेशजीने एक कार्ड इस आशयका मुझे भेजा था। मै उन दिनों इन्दौरमे ही अध्यापन कार्य करता था। प्रातःकालके समय स्टेशनके लिए चल पडा। पहले कभी उन्हें देखा नहीं था, इसलिए चिन्ता थी कि उन्हे पहचानूँगा कैसे। गाडी पॉच-सात मिनटसे अधिक न ठहरती थी। इतने ही समयमे उन्हे तलाश करके बातचीत करनी थी। उनका नाम लेकर स्टेशनपर चिल्लानेमे तो अशिष्टता होती। गाडी आई, बीसियों यात्री नीचे उतरे। उनमें छरहरे बदनके और चश्मा लगाये हुए एक नवयुवक भी थे। समझ लिया हो न हो यही विद्यार्थीजी है! हिन्दी सम्पादकोंमे किसीके मोटे होनेकी सम्भावना तो थी ही नही। निकट जाकर पूछा "क्या आपही प्रतापके सम्पादक है?"

"और आप फिजीके पंडित तोतारामजी?"

"नही! पर मै उन्हीका आदमी हूँ"

उन दिनो मैंने पडित तोतारामजीके कृपापूर्ण सहयोगसे प्रवासी भारतीयोंका कार्य प्रारम्भ किया था।

श्रद्धेय गणेशजीके प्रथम दर्शन मुझे इस प्रकार हुए। उन पॉच मिनटों की बात-चीतने भी हृदयपर काफी प्रभाव डाला। इसके बाद तो बीसियो बार श्रद्धेय गणेशजीसे मिलनेके अवसर प्राप्त हुए। एक बार वे मेरे यहॉ फ़ीरोज़ाबाद भी पधारे, और प्रताप कार्यालय तो अपना घर ही बन गया तथा गणेशजी अपने बन्धु। यद्यपि मुझे श्रद्धेय गणेशजीके उतने निकट

पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जितने निकट श्री माखनलालजी, श्री कृष्णदत्त पालीवालजी, श्री श्रीराम शर्मा इत्यादि पहुँच सके, तथापि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझपर उनकी जितनी कृपा थी, वह किसीसे कम नही थी। आश्चर्यकी बात तो यह है कि उनके कितने ही बन्धु ऐसे है, जो इस बातका दावा करते है कि उन्हीपर उनका सबसे अधिक स्नेह था। गणेशजी एक सस्था थे, कार्यकर्ताओंके एक कुटुम्बके पालक-पोषक थे। और उनके विशाल हृदयमे हम सबके लिए स्थान था। इस कुटुम्ब मे क्रान्तिकारियोसे लगाकर मेरे जैसे साहित्यिक भी थे, पर वे सबपर प्रेम रखते थे, सबके बन्धु थे और सबसे ऊँचे थे। सबमे मिले हुए होनेपर भी सबसे अलग थे।

उनका व्यक्तित्व निराला था। हिमालयकी तराईमें खड़े व्यक्तिके हृदयमे माउण्ट ऐवरेस्ट या गौरीशकरकी चोटीकी ओर देखते हुए जिस प्रकारके भयमिश्रित सम्मानके भावोंका उदय होता है, उसी प्रकारके भावोंका उदय आज अमर शहीद विद्यार्थीजीके चरित्रकी ओर दृष्टि डालने-पर इन पक्तियोंके लेखकके हृदयमे हो रहा है। उनके विषयमें अनेक मित्रो तथा भक्तोंने अपने-अपने सस्मरण लिखे है। एक पत्रकार बन्धुकी हैसियतसे मै भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। साथी पत्रकारोंके साथ वे कैसा बर्ताव करते थे, उनका कितना ख्याल रखते थे और संकटके समय उनकी कितनी सहायता करते थे, श्रद्धेय विद्यार्थीजीके जीवनके इस पहलूपर इन पंक्तियोसे शायद कुछ प्रकाश पड़े।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेशजीने कितने ही युवकोको लेखक बनाया था और लेखकोंको पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने एक सम्पादक मित्रसे कहा था: "यह क्या बात है जी! कि तुम्हारे पत्रको काम करते हुए इतने दिन हो गये और तुमने अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाया?" इस विषयमे गणेशजी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदीजीके

सुयोग्य शिष्य थे। प्रतापके वायुमण्डलमे बने और पनपे हुए कवियो, लेखको तथा सम्पादकोंकी सख्या काफी बडी है।

हिन्दी-पत्रकारोका जीवन कितना सकटमय होता है, यह भुक्तभोगी ही जानते है। ऐसे सकटके समय वह किसी-न-किसीका सहारा ढूँढता है, पर हिन्दी-सम्पादकोमे कितने ऐसे है जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दे सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूरकी बात है, और दर-असल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज़ है। सहानुभूतिके भूखे कष्ट-पीडित पत्रकारको Appreciation या दादकी जितनी जरूरत है, उतनी किसी दूसरी चीजकी नही। वह अपने कष्टोको सन्तोषपूर्वक सहन कर सकता है, यदि उसे विश्वास दिला दिया जाय कि उसके जीवनका भी कुछ उपयोग है। गणेशजी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञानके अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढकर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने संकटग्रस्त पत्रकार बन्धुओकी इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्म-सम्मानको किसी प्रकारकी ठेस न पहुँचने पावे, वे खूब जानते थे।

नवम्बर १९२० मे मैने एक पत्र अपने विषयमे उन्हे लिख भेजा। १९१५ और १९२० के बीचमे उनसे घनिष्ट परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पडी। उन्होने इस पत्रका जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैने सार्टीफिकेटके लिफाफेमे रख छोडा, उसके कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, प्रारम्भकी प्रशसात्मक पंक्तियाँ छोड दी गई है—

"१६,११,२०

'प्रियवर चतुर्वेदीजी,

बन्दे।

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ।. . . . . आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदयसे स्वीकार है। प्रताप आपका है। आप वैसे कहे, तो प्रतापकी सारी शक्तियाँ आपके चरणोमे अर्पित हो जॉय। Charity

की बात नही। ऐसी आत्माओंके कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने कामका पोषण है, लक्ष्य-सिद्धिकी ओर बढ़ना है। दैनिक प्रताप २२ तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखे। मै समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते है। एक अकमे एक बात पूरी हो जाय। आप हर मास १०,१२,१५ तक ऐसे लेख दे। आपकी जो आज्ञा होगी, प्रताप उसे आपके चरणोंमे रक्खेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकोसे हम दैनिकमे लिखावेंगे, उन्हे एक रुपया कालम देंगे, परन्तु आपके लिए आपकी आज्ञा हमे मान्य होगी। योग्य सेवाका आदेश दे।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी"

महीनेमे २५, २६, दिन निकलनेवाले दैनिक पत्रमे १०, १२, १५, लेख छापनेका वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेखका मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायताके उपयोग करनेका मौका ही नही आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस सन्तोषका स्मरण करके हृदय गद्‌गद हो जाता है, जो उपर्युक्त पत्रके मिलनेपर प्राप्त हुआ था।

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बन्धुओंका बराबर ख्याल रखते थे। किन-किन कठिनाइयोमें उन्हें काम करना पडता था, उसका अनुमान उनके एक पत्रके निम्न लिखित अशसे किया जा सकता है:

"प्रिय चतुर्वेदीजी, वन्दे।

• आप बहुत नाराज होंगे। आप लम्बे पत्र भेजते है, ठीक-ठीक उत्तर भी नही देता। क्या करूँ मुझे कामकी अधिकताकी शिकायत नही है, मुझे शिकायत इस बातकी है कि मै इतना दुर्बल क्यो हूँ कि इतना कम काम

कर पाता हूँ। यदि मै २४ घंटा काम कर सकता तो, आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छुटा हुआ है। घरकी चिन्ताओंसे घरके बाहर निकलते ही छुट जाता हूँ, और बाहरसे घर पहुँचते ही, घरकी चिन्ताओमे दब जाता हूँ। दोनों ओर खाई है। आज पॉच रातसे बराबर जगकर दो बच्चोंकी, जिन्हें नियूमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिनको जब कार्यालयमे आता हूँ तो प्रतापके कार्यमे नही, दूसरे कामोंकी बाढमें बह जाता हूँ। हालत उस तिनकेकी-सी है, जो तेज बहावमे ठहर नही पाता और बहता ही चला जाता है। खैर, यह तो आत्म-कथा है और इतनी लम्बी-चौडी है कि कई पत्रोंमे भी समाप्त नही हो सकती। कहनेका तात्पर्य यह कि ऐसे आदमीसे आप अधिक आशा न कीजिये। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताहसे प्रताप हीमे कुछ नहीं लिख पाया हूँ। बाहरके किसी सज्जनके लिए लिखूँगा तो आपके लिए सबसे पहले लिखूँगा।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी"

इस प्रकार व्यस्त रहनेपर भी उन्हें यह बात नही भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार बन्धु सकटमे है, उसे कही कामपर लगाना है। उनका १४,४,२७ का एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है :

कानपुर १४,४,२७

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आप प्रयागके मेजर बसु और उनके पाणिनी आफिसको अवश्य जानते होगे। मेजर साहबके पास दस-बारह हजार पुस्तके है। वे Indian Academy नामकी एक सस्था बनाना चाहते हैं, जहाँ कुछ विद्वान् बैठकर भारतीय इतिहासके रिसर्चका काम करें। मेजर साहबके पास इस कामके लिए बहुत मसाला है। वे अपनी किताबे, कुछ जमीन और कुछ रुपया

देना चाहते है और यह चाहते हैं कि कोई सत्पात्र इस कामको उठा लेवे, और कई सज्जनोकी एक कमेटी बन जाय जो आवश्यक फंडका प्रबन्ध कर ले। सुन्दरलालजी की तथा मेरी दृष्टि आपपर पडी। क्या आप प्रयागमे रहकर इस कामको आगे बढा सकते है? फंडकी कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटनेवाला मिल जाय। मेजर बूढे आदमी हैं। वे कुछ लिखनेका काम कर और करा सकते है, इससे अधिक और कुछ नही। यदि आपको सुविधा हो तो आप इलाहाबाद जाकर मेजर बसु और सुन्दरलालजीसे मिल लीजिये। इसमे जो खर्च होगा मै दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजियेगा। आशा है आप सानन्द होगे।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी"

कौन हिन्दी सम्पादक ऐसा है, जो अपने भाइयोका इतना ध्यान रखता है? काम तलाश करना और आने-जानेका खर्च भी अपने पाससे देनेके लिए कहना!

गणेशजीके बन्धुत्वमे कृत्रिमता नही थी, वह पूर्णतया स्वाभाविक था। वे अपने साथियोसे कामरेडशिपका बर्ताव करते थे और उन्हे खूब स्वतंत्रता देते थे, यहाँ तक कि उनके साथी उन्हे उसी प्रकार खरी-खोटी सुना सकते थे, जिस प्रकार कोई अपने घरके बडे भाईको सुना सकता है। इस प्रसगमे एक बात याद आ रही है। 'विशाल भारत' की आलोचना 'प्रताप' मे हो गई थी और वह काफी प्रशसात्मक भी थी, पर वह गणेशजीकी लिखी नहीं थी। बस इसी बातसे मै असन्तुष्ट हो गया! इसके बाद प्रताप कार्यालयसे एक ब्लाक उधार मॅगाया, जो मैनेजरने भेज दिया, पर साथ ही यह भी लिख दिया कि ब्लाक उधार देनेमे हमे बडी असुविधा होती है। यह बात भी मुझे बुरी लगी। सोच लिया कि कभी कानपुर पहुँचकर गणेशजीको

खूब खरी-खोटी सुनाऊँगा। एक अवसर आ भी गया। कानपुर उतरा और प्रताप कार्यालयमे डेरा जा जमाया। गणेशजी उस समय ऑफिसमे थे नही। सामान रखकर एक कुर्सीपर बैठ गया। सामने मेज थी। गणेशजी आये। मै उठने लगा। वे बोले, "अरे भाई बैठे भी रहो!" ऐसा कहकर कन्धोपर हाथ रखके कुर्सीपर बिठला दिया, और स्वयं मेज़के सहारे खड़े हो गये। मैने कहा, "मैं तो आज आपको Condemn करने आया हूँ, अच्छी तरह डॉट बतानेके लिए।"

गणेशजीने हँसकर कहा, "कहो भी तो क्या हुआ, आखिर बात क्या हुई?"

मैने कहा "बात क्या है! मैने तय कर लिया है कि अब 'विशाल भारत' मे खूब घासलेटी किस्से छापा करूँगा। आपने अमुक घासलेटी पत्रकी लम्बी आलोचना प्रतापमे की है और हमारे पत्रके विषयमे कुल जमा आठ-दस लाइनें निकली हैं, सो भी आपने नही लिखी" और भी न जाने क्या-क्या बात उस समय अभिमानवश कह गया, मानो गणेशजी कोई भयङ्कर अपराधी हो और मै कुर्सीपर बैठा हुआ जज!

गणेशजी मुसकराये और बोले "बस इतनी ही बात है? यही मेरा घोर अपराध है? अच्छा भाई अबकी बार खुद लिखूँगा।"

मैने कहा, "दूसरा अपराध आपने और भी किया है। ब्लाक उधार नही दिये।"

इसपर गणेशजीने सारा किस्सा सुनाया।

"दिल्लीके अमुक पत्रने प्रतापके इतने ब्लाक हज़म कर लिये, और फलॉ अखबारने ब्लाकोको बिलकुल खराब कर दिया, बताओ इस हालतमे क्या किया जाय। आफिसको General instiuction दे रखी है कि ब्लाक बाहर न भेजे जायँ। तुम्हारी चिठ्ठी आई होगी। मैनेजरने जवाब दे दिया होगा। मै तो सब चिठ्ठियाँ देखनेसे रहा। अच्छा अब जो ब्लाक

चाहो उठा ले जाओ। मैनेजरको मै कह दूँगा, पर मै यह तुम्हे बतला देना चाहता हूँ कि अगर तुम ऑफिससे ब्लाक उधार देना शुरू करोगे तो तुम्हे भी यही कटु अनुभव होगा।" गणेशजीकी बात बिलकुल ठीक थी। मुझे भी आगे चलकर इस विषयमे वैसे ही कडुवे अनुभव हुए।

हिन्दी और अग्रेजीके अनेकों सम्पादकोसे मेरा परिचय है, पर किसीके सामने इस स्वतन्त्रताके साथ खरी-खोटी सुनानेकी हिम्मत मुझमे नही है और कौन छुटभइयोको इतनी स्वतन्त्रता देता है? हॉ, यह कहना मै भूल गया कि कुछ दिनो बाद गणेशजीने 'विशाल भारत' की दो ढाई कालमकी आलोचना स्वय ही प्रतापमे की।

जब गणेशजी कानपुरसे कौन्सिलके चुनावके लिए खडे किये गये तो मैने उनकी सेवामे एक पत्र भेजा। इस पत्रका आशय यह था कि आप जैसे Mass minded (सर्वसाधारण-जैसे विचारवाले) आदमी चुनावके दलदलमे क्यो फॅस रहे है, यह बात मेरी समझमे नहीं आती। इस पत्रका जो विस्तृत उत्तर आया उसे मै ज्यों-का-त्यो प्रकाशित करता हूँ—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आपका कृपापत्र मिला। मै गत सप्ताहसे छुट्टीपर हूँ, इसलिए आपके पत्रका उत्तर तुरन्त न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है वह ठीक है। मै कौन्सिलमें जाना लाभदायक नही समझता। वहॉका वायुमडल बहुत विषैला है और कौन्सिलसे देश या साधारण आदमियोंको कोई लाभ नही पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मै यह भी देख रहा हूँ कि हममेंसे जो लोग कौन्सिलमे जायेंगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी, और वे और भी नीचे जायेंगे। कानपुर काग्रेसने अपने ऊपर इलेक्शनका काम लेकर देशको बहुत हानि पहुँचाई। मै कौन्सिलमे कतई नही जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूतसे बचा

रहूँ। यहाँका हाल यह है कि कानपुरमें जान तो है और लोग साहस और जोशके भी हैं, किन्तु उनके पास कौन्सिल युद्धके लिए उपयुक्त बलिदान नही है। डा० मुरारीलाल और डा० जवाहरलाल डेढ-डेढ वर्षके लिए सजायाब होनेके कारण खड़े नही हो सकते। अब उनके लिए मै ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूँ, जिसे लेकर वे कानपुरके एक ऐसे आदमीके मुक़ाबलेमे सफलताकी आशा करते है जो लाट साहबसे हाथ मिलानेकी ख्वाहिश पूरी करनेके लिए ५०,००० रुपया खर्च करनेके लिए तैयार है और जो रुपयेके बलपर कानपुरके वोटोको अपने हाथोमें करनेका दम भरता है। काग्रेस कमेटीने एकमतसे मेरा नाम रखा। मैने इसका विरोध किया। हम दो विरोधी थे, मै और बालकृष्ण। उसके बाद यह बात प्रान्तिक कमेटीकी कौन्सिलके सामने गई। मैने वहाँ स्पष्टरूपसे लिखकर भेजा कि मुझे माफ कीजिये, किन्तु इस विनयपर भी कोई ध्यान नही दिया गया, और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसीको आपने पत्रोंमे देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मै प्राण बचाता हूँ, किन्तु देवीकी उपासना करनेवाले बलिदानके लिए मुझे पकडते फिर रहे है। मैने अन्तिम निर्णयके लिए दस दिनकी मोहलत माँग ली है, जो १० जूनको समाप्त होगी। मेरे सामने विचारनेकी यह बात है कि यदि मै बलिदान होनेके लिए राजी नही होता, तो यहाँके पुराने कार्यकर्ता काग्रेससे इस्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे काग्रेसमे रहते हुए काग्रेसकी प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार काग्रेसकी प्रतिष्ठाकी दुहाई दी जा रही है। मै यह बात पेश कर रहा हूँ कि मै अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी, कौन्सिलकी उपयोगितापर विश्वास नही करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण-सा अन्तर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टीमे दिखाई दे रहा है, वह इलेक्शनके बाद न रह जायगा। मै यह भी कहता हूँ कि मैं हिन्दू-

मुसलमानोके झगड़ेका मूल कारण इलेक्शन आदिको समझता हूँ, और कौन्सिलमें जानेके बाद आदमी देश और जनताके कामका नही रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रोंसे राय माँगी है। आप भी अपनी राय देनेकी कृपा करें।

१० जून तक कुछ निर्णय कर सकूँगा। चतुर्वेदीजी, इस संकटमे मै आप ऐसे मित्रोकी समवेदनाका अधिकारी हूँ। मै अपने सहयोगियोंसे शुष्क व्यवहार इसलिए भी नहीं कर सकता कि हमारे आपके सम्बन्ध सदा बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानन्द होगे।

आपका
ग० शं० विद्यार्थी"

× × ×

मेरा विचार बहुत दिनोंसे पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीका जीवन-चरित लिखनेका था, पर इसके लिए उनकी सेवामे महीने दो महीने रहनेकी आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नही थे। किसीसे कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। बहुत दिनो बाद यों ही मैंने गणेश-जीको भेजे गये एक पत्रमे अपने इस पुराने विचारका जिक्र कर दिया। इसपर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ।

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे। कानपुर ४, २, ३०

आपका ६ दिसम्बरका एक पत्र मेरी डाकमे पडा हुआ था। वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारीके कारण उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसीलिए आपके उस पत्रका उत्तर लिख रहा हूँ। दोनो आलोचनाएँ अर्थात् 'विशाल भारत' की और 'चाँद' के उस अंककी मेरी ही लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजीके पत्रकी नकल भेजकर मेरी धारणाको और भी दृढ़ कर दिया। मै उन्हें बहुत पहलेसे बहुत कोमल भावनाओंका व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-से-छोटी अनुकम्पाको नहीं भूलते, और अपने

निकटके आदमियोंको इतना चाहते है कि देखकर दंग रह जाना पडता है। ऊपरसे उनमे इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूरका आदमी उनसे सदा घबडाया करता है। आपने वह अवसर बुरा छोडा। दो चार सौ रुपयेकी तो कोई बात नही है। अब भी मै तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिये। आप जानते हैं कि 'जानसन' बडा होते हुए भी इतना बडा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनीका लेखक 'बोसवेल' न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजीके पास कुछ दिन अवश्य रह जाइये। सम्भव है, वे अभी जियें, किन्तु किसीके जीनेके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनमे कितने ही ऐसे गुण है कि आनेवाली सतति उन गुणोंकी कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके 'बोसवेल' बन जाइए, जो खर्च पड़े उसका जिम्मेदार मैं। आपके पास भी कामोंकी कमी नही है, किन्तु दो-तीन बारमें आप कुछ सप्ताहोका समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थनापर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहे।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी"

मैं ऐसे सपूतोको जानता हूँ, जो अपने पिताकी स्मृति-रक्षाके लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। बड़े परिश्रमके साथ मैंने एक साहित्यसेवीके जीवनचरितके लिए नोट लिये और मसाला संग्रह किया। जब मैंने जीवनचरित लिखनेका विचार किया, तो उनके पुत्र बजाय कुछ मसाला भेजनेके मुझसे मेरे नोट ही वापस मँगाने लगे! दूसरे महानुभाव बिना कुछ खर्च किये जीवन-चरित लिखानेकी फिक्रमे हैं। विचारणीय बात यह भी है कि ये दोनों सज्जन खूब खाते-पीते खुशोखुर्रम है, पर पिताका सच्चा श्राद्ध करनेके लिए न उनके पास पैसा है और न समय! इनकी तुलना कीजिये गणेशजीकी उदारतासे, जो आर्थिक संकटमें रहते हुए

भी चार सौ रुपये तक केवल इसीलिए खर्च करनेको तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजीका जीवनचरित लिखा जाय।

एक बार श्रद्धेय गणेशजीने मुझे बहुत समझाया और कहा Self-Sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात) ये दोनों अलग चीज हैं। अपने लेखोंके लिए पुरस्कार लिया करो और बहुत दिनों तक उन्होंने प्रतापसे ५ रुपया प्रति पृष्ठके हिसाबसे पुरस्कार दिया भी।

गणेशजीकी इस प्रकारकी कृपा केवल मुझीपर रही हो, सो बात नही। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओंका स्मरण कर आँसू बहाते है।

अभी उस दिन एक पत्रकारने कहा :

"मैं एक सज्जनसे मिलने आगरे गया हुआ था। रेलसे वापिस आनेके लिए पैसे पास थे नही, और उन महाशयसे माँगनेमे संकोच हुआ, इसलिए पैदल ही चल पड़ा। रास्तेमे एक महाशय मिल गये, जो गणेशजीके और मेरे, दोनोंके परिचित थे। उन्होंने बातचीतमे पूछा तो मैने कारण बतला दिया। उन्होंने यह बात कही गणेशजीसे जाकर कह दी। बस उन्होंने तुरन्त ही पचास रुपयेका मनीआर्डर भेज दिया और लिखा, 'तुम भी अजीब आदमी हो, भला अपनोसे इतना संकोच! हमे रूखी-सूखी खानेको मिलती है तो हम-तुम बाँटकर खा लेंगे।' पत्रके शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे, पर आशय यही था। मै अपनी इस भूलपर कि मैने उस आदमीसे यह बात क्यो कही, बडा लज्जित हुआ।"

हमारे पडोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं :—

"मुझे एक अत्यन्त आवश्यक घरेलू कार्यके लिए दो-सौ रुपयेकी जरूरत थी। कहींसे मिलनेकी सुविधा नही थी। गणेशजीके पास गया! प्रताप कार्यालयमे भी उस दिन रुपये नही थे। गणेशजीने अपने एक साथीको बुलाकर कहा, 'देखो जी, मेरी जिम्मेवारी पर दो सौ रुपये अमुक दूकानसे लाकर दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जायगा।"

सत्याग्रह आश्रमकी बात है। लडकेको तेज बुखार आ गया था। मै घबरा गया। डाक्टर चार-पॉच मीलपर रहते थे। बन्धुवर हरिभाऊ उपाध्यायके पास गया। वे लेख लिखनेमे अत्यन्त व्यस्त थे। ज्यों ही मैंने जिक्र किया, उन्होने तुरन्त ही कलम रख दी और साथ चल दिये। डाक्टर लाये। लडका स्वस्थ हो गया। मैने हरिभाऊजीसे कहा "आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिये, इसमे मुझे बडा हर्ष हुआ।" उन्होने कहा, "यह बात मैने गणेशजीसे सीखी। चाहे जैसा जरूरी काम वे कर रहे हों, यदि उन्हे यह मालूम हो जाय कि किसी बीमारके लिए उनकी सेवाकी जरूरत है तो वे तुरन्त अपना काम छोडकर उस बीमारका काम करते है।"

सन् १९२४ के प्रारम्भमें पूर्व अफ्रिका जाते समय जहाजमें डेकपर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजिनी देवी ऊपर फ़र्स्ट क्लासमे थी। समुद्री बीमारी Sea-Sickness के मारे नाकों दम था। चारों-ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बारकी समुद्र-यात्रा थी, इसलिए और भी घबडा रहा था। उस समय गणेशजी जेलमें थे। उनकी याद आ गई। मि० ऐण्ड्रूजका भी स्मरण हुआ। दिलमे सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनियामें मि० ऐण्ड्रूज और गणेशजी-जैसे सहृदय व्यक्ति बहुत-से होते। अपने मनको शान्त करनेके लिए उसी समय गणेशजीका एक छोटा-सा स्कैच अंग्रेजीमें लिखा। केनियाकी राजधानी नैरोबी पहुँच कर मैंने पहला काम यह किया कि टाइप करके उस स्कैचकी एक प्रति लीडरको भेजी। यह लेख लीडरके २१ फरवरी सन् १९२४ के अङ्कमे प्रकाशित हुआ। उस लेखके दो वाक्य निम्नलिखित है :

"What is behind that influence of the Pratap? The personality of Ganesh Shankar Vidyarthi. Quite unassuming in his manners, with a heart which keenly

feels for the poor and a face which speaks of his long suffering and transparent sincerity, the personality of Ganesh Shankar Vidyarthi has a peculiar charm of its own. He has suffered much, has faced many difficulties and has passed countless troublesome days and anxious nights. He has been sent to jail thrice and his is a record of suffering hard to beat."

"Having no axe to grind, with no ambition except that of serving the poor, possessing the indomitable courage, ever ready to oppose tyranny and injustice from whatever quarter they may be the capitalists—the Government or the mob—Sriyut Ganesh Shankar Vidyarthi, the fighting editor of the Pratap is a representative of the powerful jinafolism of the coming future in India."

"प्रतापके उस प्रभावके पीछे क्या है? गणेशशकर विद्यार्थीका व्यक्तित्व। वे अपने व्यवहारमे बिल्कुल कृत्रिमता नही रखते, उनका हृदय गरीबोंके लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुखमण्डलसे उनकी दीर्घ कष्टसहन और पारदर्शी सच्चाईकी आभा छिटकती है,। गणेशशंकर विद्यार्थीके व्यक्तित्वका अपना आकर्षण है। उन्होंने बहुत कष्ट उठाये हैं, अनेको मुसीबतोका सामना किया है और उनके जीवनमे असंख्य दुखप्रद दिवस तथा चिन्ताकुल रजनी व्यतीत हुई है। उन्हे तीन बार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट-सहिष्णुतामे उनका रेकर्ड अद्वितीय है।

स्वार्थ-भावनासे रहित, दरिद्रनारायणकी सेवाके सिवा जिसकी कोई दूसरी आकाक्षा नही और अन्याय तथा अत्याचारके विरुद्ध, चाहे वे किसी-

के द्वारा पूँजीपतियो या सरकारकी ओरसे अथवा अनियंत्रित मानवसमूह द्वारा किये जाते हो, सदा खडा होनेका जिसमे अदम्य साहस है, ऐसे प्रतापके योद्धा सम्पादक, भारतकी भावी शक्तिशाली पत्रकारिताके प्रतिनिधि है।

× × ×

गणेशजी हास्यप्रिय भी खूब थे और उनसे हँसी-मजाक भी खूब होता था। गोरखपुरके हिन्दी साहित्य सम्मेलनमे वे प्रधान थे। जब उनका स्वागत हो चुका तो मिलनेपर उन्होंने पूछा, "अरे भई, तुमने यह क्या घासलेटका झगडा खडा कर दिया है?"

मैंने कहा :–"एक औरत थी। उसने नया गहना (कंगन) बनवाया। किसीने पूछा भी नहीं! बस उसने अपनी झोपडीमे आग लगा दी। और हाथ उठा-उठाकर आग बुझानेके लिए चिल्लाने लगी। लोग बुझाने आये! एकने पूछा तुमने यह गहना कब बनवाया? उस औरतने कहा 'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते, तो इस झोपडीमें आग क्यों लगती?' सो आप पहलेसे ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आन्दोलन क्यों खडा होता।"

यह सुनकर गणेशजी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले–"अच्छा, समझ गये। यह तुम्हारी Personal-vanity (व्यक्तिगत अहकार) है।"

सम्मेलनमे गणेशजीके सभापति होनेसे यही प्रतीत होता था कि सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था तो उसे वे मानों अपने साथियोमे बाँट देते थे। गोरखपुर सम्मेलनमे उनके साथियो को यह प्रतीत होता था, मानो हम ही सभापति है, पर गणेशजी अपने कार्यमें या नियंत्रणमे शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्णजी

शर्मा 'नवीन' तथा शिवनारायणजी इत्यादिको उन्होने खासो डाट बतलाई। मै भी उनसे झगड पड़ा और मुझे भी फटकार सुननी पड़ी।

गणेशजीके साथी जब आपसमे मिलते तो प्रायः उनकी चर्चा होती। उनके गुण-दोषोंकी विवेचना होती। एक बार मैंने कहा "यदि मुझपर कोई सकट आवे, तो गणेशजी ही पहले आदमी होगे, जो मेरी सहायता करेंगे, पर इतना मै अवश्य कहूँगा कि गणेशजीकी सहृदयतामे वह भोलापन नही है, जो सत्यनारायणमे था।" वे सज्जन बोले "ठीक है, पर गणेशजीको एक संस्थाका सचालन करना पडता है, यदि वे सत्यनारायण होते तो न संस्थाका संचालन कर पाते और न हम लोगोकी सहायता!"

आज गणेशजी अपनी गौरवमय मृत्युसे उस उच्च स्थानको पहुँच गये हैं, जहाँ उनके सैकडो साथियोंका, हम सबका, जन्मजन्मान्तरमें पहुँचना असम्भव है।

आज उस दीनबन्धुके लिए किसान रो रहे है। कौन उनकी उदर-ज्वालाको शान्त करनेके लिए स्वय आगमे कूद पड़ेगा? मजदूर पछता रहे है, कौन उन पीडितोंका सगठन करेगा? मवेशीखानेसे भी बदतर देशीराज्योंके निवासी अश्रुपात कर रहे हैं, कौन उन मूक पशुओंको वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं, कौन उनका दुखड़ा सुनेगा और सुनावेगा? राजनैतिक कार्यकर्ता रो रहे हैं, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफतमें फँसेगा? कौन उनके कन्धेसे कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य-संग्राममे चलेगा? और एक कोनेमे पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बन्धु भी अपनेको निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे है। आपत्कालमे कौन उन्हें सहारा देगा, किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे, किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे, और कौन छुटभइयोंका इतना ख्याल रखेगा?

देशमे बहुत-से पत्रकार हुए है, है और होंगे। प्रभावशाली व्यक्तियोकी भी कमी नहीं। लीडर भी बहुत-से है, शायद ज़रूरतसे ज्यादा। कईसे अपना परिचय भी है, कुछ की कृपा भी, पर गणेशजी-जैसा पत्रकारोंका सखा, उनके संकटका सहारा, दूसरा नहीं मिला। इस जीवनमे मिलनेकी आशा भी नही।

१९३०]

द्विवेदीजीके साथ चार दिन

"पूर्व जन्ममें तुमने कौन-से पाप किये थे, जिससे ऐसी तेज धूपमे तुम्हें यहाँ आना पडा?" इस मधुर फटकारके साथ पूज्य द्विवेदीजीने मेरा स्वागत किया। मैने तुरन्त ही उत्तर दिया "पुण्योंका परिणाम है पापोंका नहीं, इसे मै तीर्थ-यात्रा समझता हूँ।"

मेरी यह तृतीय दौलतपुर-यात्रा थी, और अबकी बार मैं वहाँ कई रोज रहनेके इरादेसे गया था। मानव-चरित अध्ययन करनेका मुझे शौक है, और हिन्दी-साहित्यकी दृष्टिसे द्विवेदीजीसे अच्छा व्यक्ति भला कौन मिल सकता था? दौलतपुर पहुँचकर मुझे पता लगा कि द्विवेदीजीके स्वास्थ्यकी वर्तमान दशामें, किसी लेखकका वहाँ पहुँचना उनपर सचमुच अत्याचार करना है। वे अपने साहित्य सम्बन्धी कार्यसे अवकाश ग्रहण कर चुके है, उनके साथी-संगी कभीके चल बसे हैं, और पुरानी स्मृतियोंकी याद दिलानेसे वे विकल और विह्वल हो जाते है, अत्यन्त संयमसे चलते हुए वे अपने जीवनके शेष दिन, ग्रामीणोंकी सेवा करते हुए एक ग्रामीणकी तरह बिता रहे हैं। उन्हें उन्निद्र रोग है। रात आँखें मूँदे-मूँदे ही बीत जाती है। नीद नही आती। अधिक मानसिक परिश्रम करनेसे मूर्छा भी आ जाती है, और कभी-कभी दिनमे तीन-चार बार मूर्छित हो जाते है। ऐसी हालतमें साहित्यिक विषयोंपर वार्तालाप करनेके लिए उन्हें मजबूर करना ऐसा भयकर पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नही। यह अपराध मुझसे बन पडा, इसका मुझे दुःख है। और यह दुःख और भी बढ जाता है, जब मै यह खयाल करता हूँ कि मेरे चार दिन दौलतपुर रहनेका परिणाम भी द्विवेदीजीके स्वास्थ्यके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ, पर स्वार्थी

दोषान्न पश्यति । मै पूज्य द्विवेदीजीके जीवनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहता था और इसलिए मैने यह अपराध किया ।

देशके अनेक बडे-बड़े नेताओका निकटसे अध्ययन करनेका सौभाग्य इन पंक्तियोके लेखकको प्राप्त हो चुका है, और वह विना किसी सकोचके कह सकता है कि पूज्य द्विवेदीजीसे बढकर उच्च कोटिका मनुष्य उसे हिन्दी-साहित्य-सेवी समाजमे अभी तक दृष्टिगोचर नही हुआ । द्विवेदीजीकी विद्वत्ता अथवा लेखनशैलीकी आलोचना करनेका मुझे अधिकार नही । उनके सब ग्रन्थोको मैने पढ़ा भी नही, और उनपर सम्मति देना तो मेरे लिए पूर्ण अनधिकार चेष्टा होगी, पर मनुष्यताकी दृष्टिसे इतना मै दृढतापूर्वक कह सकता हूँ कि द्विवेदीजी जितने महान् लेखक है, उससे कहीं अधिक बढ़कर वे महापुरुष है ।

सहृदयता, नियमबद्धता, परिश्रमशीलता, ईमानदारी, सत्यप्रियता, पर-दुःखकातरता इत्यादि जो गुण महापुरुषोंमे पाये जाने चाहिएँ, वे पूज्य द्विवेदीजीमे काफी बड़ी मात्रामे पाये जाते है । मस्तिष्कको हम उतना महत्त्व नही देते, जितना हृदयको देते हैं । यद्यपि द्विवेदीजीका मस्तिष्क भी अत्युच्च कोटिका है, पर उनके समान हृदय तो लाखों आदमियोंमे शायद दो-चारको ही मिलता है । उनकी नवनीत-समान-स्निग्ध कोमलता विदीर्ण हृदयोके लिए मरहमका काम दे सकती है । जिनका हृदय हिन्दी साहित्यमे निरन्तर बढते हुए दुनियवीपन और स्वार्थसे दुःखित हो चुका हो, आदर्शहीन आदमियोको साहित्य क्षेत्रमे अधिकार जमाते हुए देखकर जिनका मन पीड़ित हो चुका हो और जो ईमानदारी और ग़रीबीमे अपना माथा ऊँचा रखनेके अभिलाषी हों, उन्हें चाहिए कि वे एक बार द्विवेदीजी-के चरित्रपर दृष्टि डाले । उन्हें उससे वही सहायता और सान्त्वना मिलेगी, जो समुद्रपर उडनेवाले और किनारा न पा सकनेवाले पक्षीको जहाजका मस्तूल देखकर मिलती है ।

चार दिन द्विवेदीजीकी सेवामे रहनेके बाद सहसा ये उद्गार निकल पड़े, "द्विवेदीजी सचमुचमे एक आदमी है और आदमी होना बहुत दुश्वार है।"

द्विवेदीजीकी नियमबद्धता देखकर महात्माजीका स्मरण हो आता है। छोटी-से-छोटी चीजका भी वे उपयोग जानते है। क्या मजाल कि कागजका एक पर्चा भी खराब जाने पाये। अखबारो तथा पत्रोके ऊपर लिपटे हुए जो कागज आते है, उनका भी वे उपयोग कर लेते है। कुछ नासमझ गॉववाले उन्हे कंजूस कहते है, पर हिन्दी वालोंको ऐसे कंजूसोकी अन्यन्त आवश्यकता है, जो इस प्रकार संयम और किफायतसे रहकर अपने कठिन परिश्रमसे कमाये हुए हजारो रुपये लोकोपकारी कार्योमे खर्च कर दें।

दौलतपुरमे डाक दियाजले पहुँचती है। स्वास्थ्यकी इस हालतमे भी जब रातको तो क्या दिनमे भी पढनेसे द्विवेदीजीके मस्तिष्कमें निर्बलता आ जाती है, द्विवेदी जी अपने प्रत्येक पत्रको स्वय ही खोलते और प्रारम्भसे अन्त तक पढ़ते है और दूसरे दिन प्रातःकाल होनेपर सबसे पहला काम वे यह करते है कि अपने हाथोसे उनका उत्तर देते हैं। जहॉ-जहॉ हम गये हमने पत्रोत्तरमे द्विवेदीजीकी इस नियमबद्धताकी प्रशसा सुनी। सुदूर मदरासमे भी जहॉ ये पंक्तियॉ लिखी जा रही है, हिन्दी प्रचारक कार्यालयके एक कार्यकर्ताने अपने अनुभवसे कहा कि पूज्य द्विवेदीजीके यहॉसे तुरन्त उत्तर आता है। अगर किसी परीक्षामें यह प्रश्न आये कि द्विवेदीजीके यहॉसे उत्तर आनेमे कितना समय लगता है, तो परीक्षार्थी बेखटक बीजगणितका निम्नलिखित फारमूला लिख सकता है: स्थानसे दौलतपुर तक चिट्ठी पहुँचनेका समय + दौलतपुरसे स्थानतक चिट्ठी आनेका समय।

पर कभी-कभी गुण भी उचित सीमाका अतिक्रम कर जानेसे अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होने लगता है। पत्रोत्तरमे द्विवेदीजीकी यह नियम-बद्धता उन्हें बडी महँगी पड रही है। उनके स्वास्थ्यका संहार करनेमे इसने काफी सहायता दी है।

× × ×

द्विवेदीजीका हृदय अत्यन्त कोमल है। श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थीने एक पत्रमे मुझे लिखा थाः—

"मै उन्हें बहुत पहलेसे बहुत कोमल भावनाओंका व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-से-छोटी अनुकम्पाको नही भूलते, और अपने निकटके आदमियोंको इतना चाहते है कि देखकर दंग रह जाना पडता है। ऊपरसे उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूरका आदमी उनसे सदा घबराया करता है।"

आजकल तो उनका हृदय और भी कोमल हो गया है। वे इस समय कोई भी बात ऐसी नही लिखना चाहते, जिससे किसीका दिल दुखे। स्वार्थी लोग उनकी वर्तमान मानसिक प्रवृत्तिसे लाभ उठानेका भरपूर प्रयत्न करते हैं। चाय पीकर द्विवेदीजी लेटे हुए थे कि मैने यही प्रसंग छेड दिया। द्विवेदीजीने सजल नेत्रोसे कहा "अब हमसे यह आशा न करनी चाहिए कि किसी पुस्तकके विषयमे नपी-तुली सम्मति प्रकट करें। हम किसीका दिल नहीं दुखाना चाहते"। चार सौ पृष्ठके पोथेको पढ़कर उसपर सम्मति देना इस दशामे उनके लिए अत्यन्त कठिन है। इसलिए वे इधरसे उधर देखकर उत्साहप्रद सम्मति लिख भेजते हैं। यार लोग उसका ब्लाक बनवाकर अपनी विज्ञापनबाजी करते है! पर इससे यह न समझना चाहिए कि द्विवेदीजीकी अक्ल सठिया गई है, और वे भले-बुरेका अन्तर नही समझते। पूज्य द्विवेदीजीमे पुराना द्विवेदीपन अब भी ज्यों-का-त्यों मौजूद है, पर उसकी झलक उनके विशेष कृपापात्रोंको ही दिखाई दे सकती

है। मेरा तो यह खयाल है कि आजकल द्विवेदीजीकी डाटका मूल्य उनकी प्रशसासे कही अधिक है। कहा जाता है कि महात्माजी अपने निकटके भक्तोंको खासी डाट बतलाते रहते है, और विरोधियोंकी अथवा इतर जनोंकी प्रशसा ही किया करते हैं। द्विवेदीजीका स्वभाव भी इस विषयमे महात्माजीसे मिलता-जुलता है। इन चार दिनोंमे द्विवेदीजीकी कई बार मधुर डाट मुझे सुननी पडी।

सध्या समय चबूतरेपर लेटे हुए थे। द्विवेदीजीको बोलनेमें भी श्रम पडता है, इसलिए उन्होंने मुझे अपने निकट बुलाकर बिठलाया। फिर पूछा 'क्या तुलसीदासजीकी रामायण पढते हो!' मैंने कहा 'नहीं' पूरी रामायण एक बार भी नही पढी।' यह बात मैंने लज्जापूर्वक अथवा निर्लज्जतापूर्वक स्वीकार कर ली। द्विवेदीजीने कहा तो तुम कवि हृदय नहीं हो। मैने कहा, आपका कहना ठीक है। फिर द्विवेदीजीने रामायणके कई मधुर प्रसंग सुनाये, और उनकी खूबियाँ भी बतलाईं। द्विवेदीजीकी स्मरण-शक्ति देखकर आश्चर्य हुआ। कविताके विषयमे बातचीत चल रही थी। मैने कहा, मुझे तो सियारामशरणजीकी कविता मैथिलीशरणजीके काव्यसे भी अच्छी प्रतीत होती है। द्विवेदीजीने कहा, सियारामशरणकी किताबे तो हमारे पास बराबर आती रही है, पर हमे तो उनकी वह कविता बहुत पसन्द आई, जो उन्होंने वर्षो पहले हमारे पास भेजी थी, और उसे हम प्रायः पढा करते है। मैंने कहा, कौन-सी? द्विवेदीजीने उस कविताको तुरन्त ही सुनाया।

"क्षुद्रसी हमारी नाव, चारो ओर है समुद्र
वायुके झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं।
शीघ्र निगल जानेको नौकाके चारो ओर
सिन्धुकी तरङ्गे सौ सौ जिह्वाएँ पसारे हैं॥

हारे सभी भाँति हम, अब तो तुम्हारे बिना
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं।
और क्या कहे अहो डुबा दो या लगादो पार
चाहे जो करो शरण्य शरण तुम्हारे हैं॥

मैने कहा इसे मुझे लिखा दीजिये। द्विवेदीजीने कहा, जिस साल मैने सरस्वतीसे छुट्टी ली थी, उसके अमुक महीनेके अंकमे वह कविता छपी थी। वहाँसे ले लेना!

थोडी देर बाद द्विवेदीजीके घरकी आठ नौ वर्षकी लडकी आई। द्विवेदीजीने उससे कहा अच्छा कविता सुनाओ। उसने सुनाना शुरू किया:—

"बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा।
है चल रहा सन् सन् पवन तनसे पसीना ढल रहा॥
तो भी कृषक शोणित सुखाकर हल चलाते जा रहे।
किस लोभसे इस आँचमें वे निज शरीर जला रहे॥

लडकीने और भी कई पद्य सुनाये। द्विवेदीजीने कहा जब मिलो, तब मैथिलीशरणसे कहना कि हमारी लडकीको उनकी कविताएँ याद है, और वह बडे चावसे पढ़ती है। कविताका जिक्र आनेपर द्विवेदीजीने दृष्टान्त देकर समझाया कि अच्छी कविता किसे कहते है। फिर कहा जो कविताएँ तुम्हारी समझमे न आये, उन्हें मत छापा करो। मैने कहा—इस प्रकारकी कविताओका नाम श्री हरिशंकरजीने क्लीटकाव्य रख दिया है, और वे संस्कृत तथा हिन्दीमे ऐसे बढिया क्लीटकाव्य बोलते चले जाते है कि सुनकर हँसी आये बिना नहीं रहती। एक क्लीटकाव्य उन्होने ऐसी कविताओके विषयमे लिखा था, उसकी एक पंक्ति थी:—

"पर्लीके घटना घूँघटपर तरंगिणीके तटपर"

द्विवेदीजीने कहा, "चिडियाघरवाले हरिशंकरजी?"

मैने कहा, "हाँ" ।

द्विवेदीजीने कहा, 'जब हरिशंकरसे मिलो तो उनसे कहना कि दौलतपुरका बुड्ढा तुम्हारी याद करता है ।'

यह देखकर आश्चर्य होता हैं कि द्विवेदीजी हिन्दी साहित्यकी वर्तमान प्रगतिसे अपनेको परिचित रखनेका प्रयत्न निरन्तर करते रहते है । यदि किसी पत्रमे किसी लेखककी रचना उन्हे पसन्द आ जाती है, तो वे तुरन्त उसकी यथोचित प्रशंसा लिख भेजते है । 'विशाल भारत'के फरवरीके अकमें 'मेरी तीर्थयात्रा' शीर्षक लेख छपा था । उसमे पुरुलियाके कुष्टाश्रमका वर्णन था । उसे पढ़कर पूज्य द्विवेदीजीने स्वय ही निम्नलिखित पत्र मुझे भेजा था :—

"फरवरीके विशाल भारतमे मैने तीर्थयात्रा नामक लेख पढा । पृष्ठके पहले कालममे कोढियोके दिये हुए प्रेमोपहारकी बात पढते ही मेरी आँखोसे अश्रुधारा बह निकली । मै बडी देरतक विकल रहा । धन्य, उफमैन साहब । मेरे हृदयमे कुछ समयसे अजीब परिवर्तन हो गया है। मुझसे दूसरो का दुःख नहीं देखा जाता । इस कारण कभी-कभी घरवालोकी फटकार भी मुझपर पडती है । फरवरीकी पेन्शन आनेमे देर है, कुछ ही टके इस समय पास है । उन्हें मिलर साहबको भेजता हूँ ।"

यद्यपि विशाल भारतके उस लेखको सहस्रो पाठकोने पढा, पर कुष्टियोके प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखानेवाले व्यक्ति थोड़े ही निकले ! द्विवेदीजीने मेरे लेखको पढ़ लिया, यही बात मेरे लिए गौरवजनक थी, पर उससे प्रेरित होकर उन्होंने उस आश्रमके लिए सहायता भी भेज दी, और इस प्रकार मुझे पुण्यका साझीदार भी बना लिया, इससे अधिक उत्साहप्रद घटना मेरे जैसे क्षुद्र लेखकके लिए और क्या हो सकती थी ?

आजकल द्विवेदीजी प्रायः संस्कृत या हिन्दी कवितामें अपनी सम्मति अथवा आशीर्वाद भेज दिया करते है। प्रयाग के किसी सज्जनको उन्होंने लिख भेजा था :—

"दे देकर जलदान भर दिये भूमि भाग सब शुष्क तडाग
लहरा रहे देख ये मेरे खेत, आम जामुनके बाग
शरतकालमें हुआ आज जो तेरा दृष्टिकोश निःशेष
तो उससे हे वारिधि तेरी शोभा ही हो रही विशेष"

यह पत्र किस प्रसगमें लिखा गया था, यह मुझे याद नहीं। किसी अन्य सज्जनको उन्होंने लिख भेजा :—

"क्षीणशक्तिर्जराजीर्णो मन्ददृष्टिरहं बुध।
पत्रदाने प्रदाने च न समर्थोऽस्मि क्षम्यताम्॥"

द्विवेदीजीके जीवनमें दम्भका नामोनिशान नहीं। उन्हें इस बातकी चिन्ता नहीं कि कोई उनके धार्मिक विश्वासोंके विषयमे क्या कहता है। यदि धर्मका अभिप्राय दीन-दुखियोंकी सेवासे है तो इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी अत्यन्त धार्मिक मनुष्य है। बाह्य आडम्बरोंमें वे विश्वास नहीं रखते। आजसे ३४ वर्ष पहले उन्होने 'कथमहं नास्तिकः' शीर्षक जो संस्कृत कविता लिखी थी, वह आज भी उनके विषयमें उतनी ही सत्य है।

"नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रम्।
या सज्जनेषु भगवन् मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो भवतु देवगणस्य पूजा॥"

"हे भगवन्, पवित्र सत्यका जो हम सदैव जप किया करते है, उसीको आप हमारा मन्त्र जप समझिये, और सत्पुरुषोंमे जो हमारी भक्ति है, उसीको हमारी देवपूजा मानिये।"

"सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम् ।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश परोपकार.॥"

"हे ईश, जीवमात्रके विषयमे हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही हमारे लिए प्रदोषादि सारे व्रतोंके फलका दाता हो, और उत्तमोत्तम चन्दनसे भी अधिक शीतलताको धारण करनेवाला परोपकार सदैव हमको आनन्द देता रहे।"

"अन्यद्ब्रवीमि किमहं जगदेकबन्धो!
बन्धुर्न कोऽपि मम देव! सुतोऽपि नास्ति।
तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽऽस्तिकस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे गतिर्मे॥"

"हे देव, और अधिक हम क्या कहें, आप इस जगतके एक मात्र बन्धु हैं, परन्तु संसारमे हमारा कोई बन्धु नहीं, पुत्र भी कोई नही। अतएव हे करुणासागर हे भगवन्! इस नास्तिक अथवा आस्तिककी गति केवल आप ही के हाथमे है।"

किसानोंकी सेवा

आजकल द्विवेदीजीके समयका अधिकाश गरीब किसान मजदूरोंकी सेवामें व्यतीत होता है। हमारे यहाँ हिन्दीके कितने ही लेखक ऐसे है जो किसान-मजदूरोंके विषयमे लेख लिखा करते है, क्रान्तिकी बाते करते और साम्यवादका उपदेश देते है पर ग्रामोंमे रहकर ग्रामीण जनताकी सेवा करना उनकी शक्तिके बाहरकी बात है। द्विवेदीजी अपनी ग्रामकी पंचायतके सरपंच है। उनके मुकदमोंका फैसला करते है। नियमानुकूल काम करना तो द्विवेदीजीके स्वभावका एक अनिवार्य अग बन गया है।

पंचायतके फैसले इतने परिश्रम और तल्लीनतासे करते है कि कोई न्याया-धीश इस विषयमे उनसे ईर्ष्या कर सकता है। छोटे-से-छोटे जिम्मेवारीके कामको पूर्ण सावधानीके साथ करना महापुरुषोंका लक्षण है। रायबरेली ज़िले भरकी पंचायतोंमे इतना कार्य कहीकी पंचायतने नहीं किया, जितना द्विवेदीजीकी पंचायतने किया।

प्रातः काल और सायंकालके समय वे नियमपूर्वक टहलनेके लिए जाते है। उन्हें बुड्ढे किसानोसे उन्हींकी भाषामें मजाक करते हुए देखकर किसीको यह अनुमान भी नही हो सकता कि इस महापुरुषने हिन्दी साहित्य-पर बीस वर्ष शानदार शासन किया था। एक बुड्ढेसे बोले, 'खाउ अपनी दुलहिनकी कसम'। वह किसान ठठाकर हँसने लगा। किसानका लडका खेतपर बेझरकी रोटी रूखी खा रहा है। द्विवेदीजी उसके पास ठहरकर उससे सवाल करते हैं, और किसानोंकी दुर्दशापर चार आँसू बहाते हैं। नया अन्न खाकर किसान बीमार पड़ गया है, दस्त होते है, द्विवेदीजी उसे पोदीना और शक्कर खानेके लिए कहते है। पोदीना अपने बगीचेसे देते है, और शक्करके लिए पैसे भी देते है। किसी किसानपर अपने १३ रु० छोड देते हैं, तो किसीपर ८ रु० कम कर देते हैं।

द्विवेदीजीने करीब एक सौ पेड आमके लगाये हैं। एक दिन वे अपने पेड देखनेके लिए गये। मैं भी साथ था। कमजोरीके मारे उन्हें चक्कर आ गया। पासके पेडका सहारा लिया। खेतमें होकर हम लोग जा रहे थे। फिर चक्कर आना शुरू हुआ। मैंने सहारा दिया। अपने लगाये वृक्षोंके निकट पहुँचकर बोले, "देखो, हमारे लगाये वृक्ष कैसे फलोंसे लदे हुए हैं। हमें तो अब इन्हीके देखनेमें आनन्द आता है।"

मुझे उस वक्त मजाक सूझा। मैने कह दिया, "आपके साहित्योपवनको तो ढोर जानवर चरे जा रहे हैं"।

द्विवेदीजी मुसकराये और उन्होंने कहा, "अब दूसरे लोग उसकी देख-भाल करें।"

चाहिए तो यह था कि मैं उस वक्त कहता कि आपका लगाया साहित्योपवन भी इसी प्रकार फल-फूल रहा है, पर मेरे मुखसे उवर्युक्त भद्दी व्यङ्गोक्ति निकल गई।

द्विवेदीजीके जीवनको देखकर यही कहना पडता है कि उन्होंने ठीक समयपर साहित्य-क्षेत्रसे विश्राम लेनेके महत्त्वको समझा, और विश्राम लेनेका अर्थ उन्होने किया दूसरे कार्यमे व्यस्त होना। आज भी जितना परिश्रम वे किसानोंकी सेवाके लिए कर रहे हैं, वह उनके स्वास्थ्यकी वर्तमान दशामे सचमुच आश्चर्यजनक है।

वर्नार्ड शाने एक जगह लिखा है :—

This is the true joy in life, the being used for a purpose recognised by yourself as a mighty one, the being thoroughly worn out before you are thrown on the scrap heap, the being a force of na-ture instead of a feverish, selfish, little cold of ail-ments and grievances, complaining that the world will not devote itself to making you happy.

अर्थात्—मानव-जीवनका सच्चा सुख इसीमें है कि जीवनका एक ऐसे उद्देश्यके लिए उपयोग किया जाय, जिसको आप महान् और उत्कृष्ट समझते हों, आप अच्छी तरह जीर्ण और जर्जरित हो जाये पूर्व इसके कि कूड़ेके ढेरमे फेंक दिये जाये, आप प्रकृतिकी एक शक्ति हों न कि क्लेश, शोक और उपालम्भोंके ज्वरग्रस्त और क्षुद्र मृतपिण्ड हों, जो सदा यही शिकायत करता रहता है, कि ससार मुझको सुखी बनाने की ओर ध्यान नही देता।

[२]

कमरेके भीतर द्विवेदीजी एक तख्तपर लेटे हुए थे। उससे कुछ दूर एक कुर्सीपर मै बैठा था। द्विवेदीजीने मुझे अपने निकट बुला लिया, क्योंकि जोरसे बात करनेमें उन्हें श्रम पड़ता है। पुस्तकोंके विषयमे चर्चा चल पडी। द्विवेदीजीने पूछा—"क्या तुमने 'यूटोपिया' नामक पुस्तक पढी है?"

मैंने कहा—"नहीं।"

और भी एकाध पुस्तकके विषयमे उन्होंने यही प्रश्न किया, पर उन्हें उत्तर नकारात्मक ही मिला। द्विवेदीजीने फिर डॉट बताई—"आखिर क्या करते रहते हो? पढते कुछ भी नहीं? अरे भाई? कम-से-कम दो घण्टे तो स्वाध्याय किया करो। अपना वक्त किस-किस काममे खर्च करते हो?"

मै बहाने बनाने लगा—"मिलनेवाले बहुत आ जाते हैं, और फुर्सत ही नहीं मिलती।"

द्विवेदीजी भला इस बहानेको क्यों मानने लगे! उन्होंने कहा—"क्यों नही घरपर लिखकर टॉग देते कि हम अमुक समयसे अमुक समय तक मिलते है। जब हम रेल-विभागमें नौकर थे, तो हमें अपने दरवाज़ेपर एक तख्ती लगा देनी पडी थी कि घरपर हमसे कोई न मिले। ऐसा करना तो तुम्हारे लिए शायद अधिक कठोर हो, पर मिलनेका समय निश्चित कर सकते हो।"

जब द्विवेदीजी झाँसीमें थे, उस समय वहाँके गोरोंकी समिति रेलवे इंस्टीट्यूटमे आनेवाली सब अंग्रेजी पुस्तके आपने पढ़ ली थीं। किसी हिन्दुस्तानीको वे पुस्तकें पढ़नेके लिए नहीं दी जाती थी, पर द्विवेदीजीने उक्त संस्थाके अधिकारियोसे विशेषाज्ञा अपने लिए ले ली थी। द्विवेदीजीने

पढा खूब है, और तो और, जानवरोकी बीमारियोंके विषयकी पुस्तकें भी उन्होने पढी है ! बातचीतके सिलसिलेमे मैने उनसे कहा—"श्रीरामजीके ग्राममे एक ऐसा अपढ़ आदमी है, जो जानवरोंकी बीमारियोंके इलाजमे बड़े-बडे वेटरनरी डाक्टरोंको मात करता है।"

द्विवेदीजीने कहा—"हमारे यहाँ भी एक ऐसा आदमी है। हमने जानवरोंकी किसी बीमारीके बारेमे उसे एक पुस्तकके कुछ अंश सुनाये, तो उस आदमीने उस पुस्तककी बातमें सशोधन बतलाये कि इसमे इतनी कमी रह गई !"

फिर द्विवेदीजीने कहा—"मालूम होता है कि नवयुवक हिन्दी-पत्रकार स्वयं कुछ नहीं पढते। 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के भरोसे बैठे रहते है ! आप यदि हमारे संग्रहको देखे, तो उसमे 'गवर्मेंएट आफ इडिया ऐक्ट' भी पावेंगे। राजनीतिपर हम नहीं लिखते थे, फिर भी राजनैतिक विषयोकी पुस्तकोका अध्ययन करना हम आवश्यक समझते थे।"

बड़ी खैरियत हुई कि द्विवेदीजीने मुझसे यह नही पूछा कि तुमने 'गवर्मेंएट आफ इडिया ऐक्ट' भी पढ़ा है, या नही ! मुझे खेद इस बातका था कि मेरी वजहसे अन्य हिन्दी-पत्रकार भी बदनाम हो गये।

पत्र-प्रेषकोंकी अक़्लमन्दी

बहुत वर्षोंसे द्विवेदीजीको उन्निद्र रोग है। थोडा भी मानसिक परिश्रम करनेसे यह रोग विकट रूप धारण कर लेता है। एक दिन सन्ध्या समय एक भले मानसकी पॉच पृष्ठ फुलस्केप काग़जकी लम्बी चिट्ठी पहुँची, जो संस्कृतमें लिखी हुई थी। द्विवेदीजी उसे प्रारम्भसे अन्ततक बिना पढे कैसे रहते? नतीजा यह हुआ कि रातको उन्हे जो दो घंटे नींद आ जाती थी, उसमे भी बाधा पड गई। सवेरे उठकर बोले—"मनमे तो ऐसा आता है कि अंग्रेजीमे एक कार्ड लिख भेजें—

"I am too feeble to reply to your long letter of five foolscap pages. Please excuse."

पर थोडी देर बाद द्विवेदीजीकी यह झुँझलाहट शान्त हो गई, और उन्होंने सस्कृतमें ही एक कार्ड लिख भेजा। न-जाने हम लोग कब यह बात सीखेंगे कि द्विवेदी-जैसे आदमियोंको संक्षेपमे ही पत्र लिखना चाहिए।

मेरा अपराध

जैसा मै पहले लिख चुका हूँ कि द्विवेदीजी अत्यन्त कोमल हृदयके व्यक्ति है, पर उसके साथ ही उनकी इच्छाशक्ति भी काफी दृढ है। यदि उनकी इच्छाशक्ति प्रबल न होती और वे संयमशील न होते, तो अब तक कभीके चल बसे होते। पत्नीके आकस्मिक स्वर्गवासके कारण द्विवेदीजी-के हृदयको बडा जबरदस्त धक्का लगा था। यहाँ तक कि उनका मस्तिष्क उन्मादकी सीमा तक पहुँच गया था। एक दिन उन्होने सोचा कि इस तरह तो काम नही चलनेका, यदि यही हालत रही, तो शीघ्र ही इस लोकसे प्रयाण करना पड़ेगा। इस प्रकारका दुःख अकेले मुझपर ही नही पडा है, ससारमें और भी लाखो आदमियोपर ऐसी आपत्तियाँ पडती रहती है। अब मैं आजसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस दुःखसे अपनेको विचलित नहीं होने दूँगा। उस दिनसे द्विवेदीजीने अपनेको सँभालना शुरू किया, और बड़ी कठिनतासे अपनेको अत्यधिक निर्बल होनेसे बचा सके। पर उनका यह दुःख हृदयके किसी कोनेमे सञ्चित किया हुआ पड़ा है, और थोड़ी-सी ठेस लगनेसे उभर आता है। एक दिन अकस्मात् मेरे मुँहसे अपने कष्टकी कुछ बात निकल गई। इसी दुःखके भुक्त-भोगी होनेके कारण यह स्वाभाविक था। द्विवेदीजीकी आँखोंमे आँसू झलक आये, और उन्होंने कहा—"अरे भाई! यह जिक्र मत करो।" द्विवेदीजीको अपनी दुर्घटनाकी याद आ गई। दूसरे दिन उन्होने मुझसे कहा—"कल

रातको दो बजे नींद खुल गई। पड़ा रहा। आँखोंसे पानी गिरता रहा। आपने अपने दुःखकी जो बातें सुनाईं, उनका यह परिणाम हुआ!" उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने कैसा भयङ्कर अपराध किया है। पत्नीवियोग एक ऐसा व्रण है, जो कभी पुरता नहीं, और बढ़ती हुई उम्रके साथ जिसकी टीस भी बढ़ती जाती है।

द्विवेदीजीकी जिन्दादिली

द्विवेदीजी यद्यपि साहित्य-क्षेत्रसे रिटायर हो चुके हैं, पर वे उससे सर्वथा अलग नहीं हुए। अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे वे अब भी साहित्य-संसारकी सैर कर लिया करते हैं, और कहाँ क्या हो रहा है, इसकी वे काफी खोज-खबर रखते हैं। घासलेट-विरोधी आन्दोलनसे वे भली-भाँति परिचित रहे, और दूसरी बार जब मैं दौलतपुर गया था, तब मुझसे उन्होंने उसके विषयमें पूछा भी था। अभी उस दिन उन्होंने मुझसे कहा—"कवि-सम्मेलनोंमें ये लोग रातको दो-दो बजे तक क्या करते रहते हैं?"

मैंने कहा—"ऊटपटाङ्ग कविता सुनाया करते हैं। जनता तालियाँ पिटती है, पर ये लोग बैठते ही नहीं।"

द्विवेदीजी—"जनता खुश होकर तालियाँ पीटती है?"

मैं—"नहीं, कवितासे ऊबकर।"

"सभापतिको ये लोग कविता दिखलाते भी हैं?"

मैंने कहा—"नहीं दिखलाते, इसमें तो वे अपनी मानहानि समझते हैं?"

द्विवेदीजीने कहा—"हमारा वश चले, तो दो-चार मिनटसे ज्यादा किसी कविको समय न दें, और दो घंटेमें कवि-सम्मेलनकी कार्रवाई समाप्त कर दें।"

यदि कोई अच्छा लेख द्विवेदीजीकी नजरमे आ जाता है, तो वे उसके लेखकका पता लगानेकी कोशिश करते है, उसे बधाई देते है, और इस प्रकार उत्साहित करते है। पिछले दिनो श्रीराम शर्माजीको द्विवेदीजीने कई पत्र लिखे थे। जब दौलतपुरमे श्रीरामजीका ज़िक्र आया, तो बोले—"हम तो श्रीराम शर्माकी भाषाशैलीपर मुग्ध है। ऐसी भाषा बहुत कम लेखक लिख सकते है। श्रीरामजी कहीं तीन-चार घटे नित्यका काम कर लें और शेष समय पुस्तके लिखनेमें व्यतीत करे?"

द्विवेदीजी बहुधन्धी आदमियोंसे नाराज़ रहते हैं। यो ही बात-चीतके सिलसिलेमे मैं उन्हे सुना गया कि मै यह काम करना चाहता हूॅ, वह काम करना चाहता हूॅ। द्विवेदीजी बोले—"तुम इतने ज्यादा काम ले बैठे हो कि सफलतापूर्वक कुछ भी न कर सकोगे। एक काम ले लो, और उसे ही अच्छी तरह करो। यह साहित्य-सम्बन्धी काम कौन थोडा है, जो इधर-उधरके काम सिरपर लेनेके लिए तैयार रहते हो।"

'विशाल भारत' के सहकारी सम्पादक ब्रजमोहन वर्माका 'उर्दू-कविता मे इस्लाह' शीर्षक एक लेख अप्रैल १९३१ की 'माधुरी' में छपा था, जिसमे उन्होंने हिन्दीकी आधुनिक कवितामे क्लिष्टकाव्यको लक्ष्य करके लिखा था—

"किसी प्रकारका नियन्त्रण न रहनेसे आजकल तुकहीन और छन्द-हीन कविताके साथ-साथ अर्थहीन क्लिष्टकाव्यका भी कुछ चलन-सा चल गया है। कुछ लोग कोरे शब्दोंसे भरी हुई अर्थहीन कविताको ही कलाकी पराकाष्ठा समझते है। कवि-सम्मेलनोंमें भी ऐसी रचनाएॅ पढ़ी जाती है। कहते हैं कि एक बार एक मुशायरेमें उर्दूके महाकवि गालिबकी मुश्किल से समझमे आनेवाली कवितापर हकीम आग़ाजानने यह किता पढ़ा था—

'अगर अपना कहा तुम आप ही समझे, तो क्या समझे,
मज़ा कहनेका तब है, इक कहे, और दूसरा समझे।

कलामे 'मीर' समझे और ज़बाने 'मीरज़ा' समझे,
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे।'

कहते है कि इसके बाद ग़ालिबने अपनी कविता सरल कर दी थी। परन्तु आजकल हमारे हिन्दीकाव्य-जगत्मे अनेकों ऐसी रचनाएँ मिलेंगी, जिनके लेखक महोदय साभिमान कह सकते हैं—

'भला वह भी कोई कविता है, जिसको सुन लिया समझे,
नहीं है 'आर्ट' कुछ उसमें, जिसे हर बेपढा समझे,
वही कविता कलामय है, जिसे आलिम तो क्या समझे!
अगर सौ बार सर मारे, तो मुश्किलसे ख़ुदा समझे!"

इसपर द्विवेदीजीने मुझे लिखा था—

"उस दिन चैत्रकी 'माधुरी' की कापी मिली। लेख-सूची पढी। उसमे एक लेख मिला—'उर्दू-कवितामे इस्लाह'। उसे पढाकर सुना। बडी खुशी हुई। लेख बहुत पसन्द आया। लेखक काव्य-मर्मज्ञ और बड़े ही सरसहृदय है। उन्होने अपने एक मिसरेमें खुदाके साथ रियायत की है। उनका कहना है—

'अगर सौ बार सर मारे तो मुश्किलसे ख़ुदा समझे।'

मुझे यह अन्याय खला है। मेरी रायमे तो—

'अगर सौ साल सर मारे तो शायद ही ख़ुदा समझे।'

यदि वह लाइन इस तरह कही जाती, तो असलियतके जियादह करीब पहुँच जाती।

लेखकका नाम ब्रजमोहन वर्मा है। आपके सहकारी सम्पादकका भी यही नाम है। क्या यह लेख उन्हींका है? यदि हाँ, तो आप बड़े खुशकिस्मत हैं, जिन्हे इतना सहृदय और काव्यतत्त्वज्ञ सहायक मिला।"

अभी कुछ महीने पहले रायपुरके किसी सज्जनका एक आलोचनात्मक निबन्ध किसी मासिक पत्रिकामे छपा था। वह द्विवेदीजीको बहुत पसन्द आया। द्विवेदीजीने मुझसे पूछा—"क्या तुमने वह लेख पढा ? उनकी लिखी हुई आलोचना हमे बहुत पसन्द आई। अच्छे-अच्छे लेख छिपे हुए पडे है। पुस्तकमें जो दोष दिखलाये गये है, उन्हे हमने भी पढ़ते समय पहचान लिया था। उस लेखको अवश्य पढना।"

श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयीका एक लेख उन्हे पसन्द आया। एक कार्ड आपने उन्हे भी लिख भेजा। सर्वश्री कालिदास कपूर, राजबहादुर लंगोडा, जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' आदि बीसियो सज्जन ऐसे है, जिन्हे द्विवेदीजीने इस प्रकारके पत्र भेजकर समय-समयपर उत्साहित किया है।

अभी उस दिन श्री सुन्दरलालजीने द्विवेदी-मेलेके अवसरपर पूज्य द्विवेदीजीसे मिलकर कहा—"मुझे आपकी उस उत्साहप्रद आलोचनाका एक अंश अब तक याद है, जिसमे आपने 'कर्मयोगी' के विषयमें लिखा था—"देखे, 'कर्मयोगी' अपने कण्टकाकीर्ण पथपर कब तक सुदृढ़ रहता है।"

देशकी साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिसे बराबर सम्पर्क रखनेकी दृष्टिसे द्विवेदीजी अपनी उम्रके अन्य भारतीय नेताओसे अधिक सजीव है और हमारा यह विश्वास है कि मनुष्यताकी कसौटी-पर द्विवेदीजी हमारे देशके कितने ही सुप्रसिद्ध नेताओसे कही अधिक खरे सिद्ध होंगे।

मेरी एक साध

नवयुवकोंको दाद देकर प्रोत्साहित करनेका गुण पराकाष्ठाको पहुँच गया था पं० पद्मसिंह शर्मामें। मेरे मनमें एक साध रह गई कि कभी द्विवेदी-

जी और शर्माजीकी जुगलजोडीका साथ-साथ दर्शन करता। पं० पद्म-सिंहजीकी यह इच्छा थी कि द्विवेदीजीके दर्शनार्थ दौलतपुर चला जाय, और उन्होंने इसका प्रोग्राम बनानेके लिए श्री रघुनन्दन शर्मासे कहा भी था। एक बार पद्मसिंहजीने मेरे पास एक प्रस्ताव भिजवाया था कि दौलतपुरसे द्विवेदीजीको लाया जाय, और आगरेकी नागरी-प्रचारिणी सभामे सत्यनारायण कविरत्नके उत्सवपर प्रधान बनाया जाय। दौलत-पुरसे आगरेतक लानेका काम उन्होने मेरे सुपुर्द किया था। मैने इस कामकी जिम्मेदारीसे साफ इन्कार कर दिया। मुझे क्या मालूम था कि शर्माजी इतनी जल्दी चल बसेंगे, नही तो मै द्विवेदीजीको आगरे बिना लाये न मानता। द्विवेदीजी भी शर्माजीसे मिलनेके इच्छुक थे, इसलिए जब प्रयाग गये थे, तब स्वर्गीय रामजीलाल शर्माके बॅगलेपर पं० पद्मसिंहजीसे मिलनेके लिए गये थे, पर पं० पद्मसिंहजी आगरे चले गये थे, इसलिए इन दोनो महारथियोका मिलन न हो सका। द्विवेदीजीका शर्माजीके सम्बन्धमे निम्नलिखित श्लोक कितना करुणोत्पादक है—

"संस्मृत्य तेऽद्य सरसञ्च कथा-कलाप
सत्यं वदामि हृदय शतधा प्रयाति।
आर्तस्य निर्गतधृतेर्मम शोक-शान्त्यै
त्वत्सन्निधौ गमनमेव विनिश्चिनोमि।"

द्विवेदीजी जो कुछ पढते है, बड़ी सावधानीके साथ पढते है। क्या मजाल कि कोई बात उनसे छूट जाय। 'विशाल भारत'मे प्रकाशित श्री सनेहीजी-की एक कवितामे कुछ अशुद्धियाँ छप गईं। ग़लती प्रेसके भूतोकी नही, वरन् सम्पादकीय स्टाफके भूतोंकी थी। फौरन ही चिट्ठी आई—"कविता-मे यह संशोधन क्या आपने किया है? जो जिस विषयमे नही जानता, उसे उस विषयमे दखल न देना चाहिए। कविता उल्टी अशुद्ध और बन गई।" इसी प्रकार एक संस्कृत कविताकी अशुद्धि उनकी निगाहसे न

बचने पाई। उन्होंने मुझसे कहा—"आपको संस्कृत पढ़नी चाहिए और उर्दूका भी अभ्यास करना चाहिए, जिससे ये जो मोटी-छोटी अशुद्धियाँ रह जाती हैं, वे तो न रहा करे।" बात यह है कि द्विवेदीजीको लबडधोंधों काम निहायत नापसन्द है। वे छात्रावस्थासे ही नियमबद्ध कार्यके पक्षपाती हैं, और प्रत्येक हिन्दी-पत्रकारसे यह आशा रखते है कि वह उनकी तरह परिश्रमी और नियमसे चलनेवाला हो।

द्विवेदीजीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य

द्विवेदीजीके जीवनके तीन विभाग किये जा सकते हैं, पहला रेलकी नौकरी, दूसरा 'सरस्वती' का सम्पादन और तीसरा किसानोंकी सेवा। इन तीनो विभागोमे अन्तिम विभाग हमारी समझमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि पहले विभागमे जीविका ही मुख्य उद्देश्य थी, दूसरेमे जीविका के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी सम्मिलित हो गई थी, पर तीसरा कार्य सर्वथा निःस्वार्थ है, और उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। हमारे अधिकाश साहित्य-सेवी एक ऐसी दुनियाके जीव बन जाते हैं, जो साधारण किसान-मजदूरोंके संसारसे बिलकुल दूर है। उनका रहन-सहन, बातचीत तथा विचार-शैली साधारण जनताके जीवनक्रमसे बिलकुल भिन्न बन जाती है। द्विवेदीजी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि आखिर किसान ही हमारे अन्नदाता हैं, और उनका ऋण चुकाना हमारा प्रथम कर्तव्य है। द्विवेदीजीके साहित्य-सम्बन्धी कार्यका परिचय तो हम लोगोंको मिलता रहा है, पर द्विवेदीजी चुपचाप पिछले १५ वर्षोंसे किसानोंकी जो सेवा कर रहे है, उससे हमलोग बिलकुल परिचित नही है।

कॉजी-हाउसका निर्माण

दौलतपुरमे कितने ही जानवर बेचारे ग़रीब किसानोंके खेत खा जाते थे। द्विवेदीजीने जिलेके अधिकारियोसे लिखा-पढ़ी करके वहाँ एक कॉजी-

हाउस बनवा दिया। इससे गरीबोंको बडी सुविधा हो गई, यद्यपि उन महानुभावोंको कुछ तकलीफ भी हुई, जिनके जानवर दूसरोंके खेतोंमें चरा करते थे, और वे द्विवेदीजीको गालियाँ देते है, पर द्विवेदीजीने न तो पहले कभी गालियोंकी परवाह की, न अब करते है। जो जन्तु अनधिकारपूर्वक किसी क्षेत्रमे प्रवेश करके उसे चरते है—चाहे वे साहित्यक्षेत्रमे हों, या किसानोके खेतमे—द्विवेदीजी उनकी खबर लिये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि यह उनकी पुरानी आदत ठहरी ! क्या ही अच्छा हो, यदि द्विवेदीजी हरहट या हरहाही लेखक-लेखिकाओंके लिए भी एक कॉजी-हाउस खुलवाये !"

द्विवेदीजीने मुझसे पूछा—"तुमने किसानोके विषयमें क्या-क्या लिखा है ?"

मैंने कहा—"लिखा तो कुछ है, पर बहुत कम।"

द्विवेदीजीने कहा—"तो अब लिखो। फ्रान्सके प्रसिद्ध (Indologist) विद्वान् प्रोफेसर सिलवॉ लेवीका नाम सुना है ? सत्तर वर्षकी उम्रमे भी वे कितना अध्ययन करते हैं, कितना परिश्रम करते है ? 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्'। और कुछ नही कर सकते, तो आगरा-डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी पिछले चार वर्षकी रिपोर्ट ही मॅगाकर उसका अध्ययन करो। देखो डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी आमदनी क्या है, और ग्रामवासियोंके लिए कितना रुपया खर्च होता है। इससे तुम्हें अपने ज़िलेका विशेष हाल मालूम होगा। ग्रामोंमें स्कूलोंका प्रबन्ध तो कहीं-कहीं है भी, पर दवादारू और सफाईका प्रबन्ध प्रायः नहींके बराबर है।"

मुश्किल तो यह है कि द्विवेदीजी हम लोगोंसे बहुत ज्यादा आशा रखते हैं। वे स्वयं इस प्रकारके कार्य करते रहे है। आजसे कई वर्ष पहले द्विवेदीजीने सहयोग-समितियोके कार्यके विषयमे एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा

था, और सरकारी अधिकारियो तकने उसकी प्रशंसा की थी। किसानोंके विषयमे भी उन्होने बहुत-कुछ लिखा है, कभी अपने नामसे और कभी बिना नामके भी। द्विवेदीजी लेख लिखकर ही सन्तोष नहीं करते, वे अपने विचारोंको कार्यरूपमे परिणत भी करते है। एक किसानको मिरगीकी बीमारी थी। आपने सुख संचारक कम्पनी मथुरासे उसके लिए दवा मँगाई। एक शीशी बीचमे ही टूट गई, इसलिए दूसरी शीशी मँगानी पड़ी। उसे अब ६ महीनेसे दौरा नहीं हुआ। द्विवेदीजी आवश्यक दवाइयॉ बराबर अपने पास रखते है, जिससे समय-कुसमयपर उनके द्वारा किसानोकी कुछ सेवा हो सके। पहले तो होमियोपैथिक दवाइयोंका एक बाक्स भी रखते थे, पर यह बाक्स उन्होने किसी डाक्टरको दे दिया। एक ग़रीब ठाकुरका जानवर कॉजी-हाउसमें चला गया। बेचारा भागा हुआ द्विवेदीजीके पास आया। जाडेका मौसम था। शरीरपर कपड़े भी नही थे। द्विवेदीजीने पूछा—"कपडे नही है क्या?" तो वह और भी रोने लगा। द्विवेदीजीने अपने कपड़े उसे दे दिये। यह तो कितनी ही बार हुआ है कि पंचायतने किसी ग़रीब अपराधीपर जुर्माना किया है, और वह जुर्माना द्विवेदीजीको अपने पाससे भरना पडा है!

भारतकी जनसख्यामें लगभग ७० फीसदी आदमी कृषि-द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिए जो साहित्य ७० फ़ीसदीके लिए हितकारक नहीं, उसे लोकोपकारी साहित्य कैसे कह सकते है? इस प्रश्नको गणितका मामूली आदमी भी समझ सकता है, पर हमारे अनेक साहित्य-सेवी नही समझते। द्विवेदीजीके जीवनकी खूबी यह है कि उनका सुलझा हुआ दिमाग तत्त्वकी बातपर तुरन्त पहुँच जाता है। मैंने उनकी सेवामे निवेदन किया—"ओरछा-नरेश दो हज़ार रुपये वार्षिकका पुरस्कार देना चाहते है, आपकी इसके विषयमे क्या राय है? मेरे लिए लिख दीजिए। द्विवेदीजीने लिखा—

"सिर्फ़ ५ वर्षके लिए। तदनन्तर नियमोंमें संशोधन। प्रतिवर्ष—
१०००) पुरस्कार

सरल और सरस भाषामे एक सर्वोत्कृष्ट पद्यात्मक पुस्तकके लिए—
पद्यसंख्या .. से कम न हो। विषय—ग्राम्य-जीवनके लाभ, उसमे आये
हुए वर्तमान दोष और उनके दूरीकरणके उपाय।

१०००) पुरस्कार प्रतिवर्ष—

सरल और सरस भाषामे लिखी गई सर्वोत्तम पद्यात्मक पुस्तकके
लिए—पद्यसंख्या . . से कम न हो। विषय—अपने चरित्रबल,
अध्यवसाय और परिश्रमसे ख्याति पाये हुए किसी ग्रामीणका जीवन-
चरित्र।

१२—४—३३ —म० प्र० द्विवेदी।"

हमारे यहाँ कितने विद्वान् ऐसे है, जो इस प्रकारका प्रस्ताव कर सकते है और कितने ऐसे है, जो इस प्रकारके प्रस्तावका स्वागत करेंगे ?

द्विवेदीजीकी सफलता तथा सजीवताका कारण

यदि कोई हमसे पूछे कि द्विवेदीजीके जीवनकी सफलताका रहस्य क्या है ? तो हम तुरन्त यही कहेंगे, परिश्रम, ईमानदारी और किफायतसारी।

द्विवेदीजी अपनी गरीबी कभी नही भूले। आज वह ग़रीब लडका, जो दालमे आटेके पेड़े डालकर अपनी पेट-पूज़ा करता था, १३ करोड़ हिन्दी-भापा-भाषियोंकी सर्वोत्कृष्ट पूजाका पूर्ण-रूपसे अधिकारी बन गया ! यह सब क्या यों ही हो गया ? नही, इसके लिए उस ग़रीब बालकको घोर परिश्रम करना पड़ा, कठिन तपस्या करनी पड़ी।

---

१ 'पद्यात्मक' द्विवेदीजीने इसलिए लिखा था कि ओरछा-नरेशने काव्य ग्रन्थपर ही पुरस्कार देनेकी इच्छा प्रकट की थी।

द्विवेदीजीके गुणोंमें सबसे अधिक आकर्षक है, उनका निरन्तर दान; तन-दान, धन-दान और मन-दान। किसीने कहा है—"Life means giving"—जीवनका अर्थ है दान। द्विवेदीजीने इस अर्थको खूब समझा है और तभी उनका जीवन सार्थक है। जब कि हम लोग येनकेन प्रकारेण सहस्रपति और लक्षपति बननेके प्रयत्नमे लगे हुए है और जब कभी चिन्ता करते है तो अपने घरकी, अपने बच्चोंकी, अपने कुटुम्बकी, उस समय वह वृद्ध तपस्वी अपनी कठिन कमाईका पैसा दान करनेमें लगा हुआ है! गत फरवरीमे उनके पचास रुपयेकी पेंशनमेसे ७) बच गये। पॉच रुपये उन्होंने पुरुलियाके ईसाई मिशनके कुष्ठाश्रमको भेज दिये। कुछ दिनों बाद जब मिशनके सेक्रेटरीका धन्यवादका पत्र पहुँचा, तो उसे पढ़कर द्विवेदीजीकी ऑखे सजल हो गईं। सोचने लगे—"मैने वे दो रुपये भी क्यों बचा लिये? क्यों न सातों रुपये मिशनको भेज दिये?"

द्विवेदीजीके जीवनक्रमको देखकर सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सनका निम्नलिखित वाक्य याद आ गया—

"A wise man will extend this lesson to all parts of life and know that it is the part of prudence to face every claimant, and pay every just demand on your time, your talents, or your heart, Always pay, for first or last, you must pay your entire debt. Person and event may stand for a time between you and justice, but it is only a postponement. You must pay at last your own debt. If you are wise, you will dread a prosperity which only leads you with more. Benefit is the end of nature, but for every benefit, which you receive, a tax is levied.

He is great who confers the most benefits. He is base—and that is the one base thing in the universe—to receive favours and render none. In the order of nature we cannot render benefit to those from whom we receive them, or only seldom. But the benefit we receive must be rendered again, line for line, deed for deed, cent for cent, to some body. Beware of too much good staying in your hand. It will fast corrupt and worm worms. Pay it away quickly in some sort."

अर्थात्—'बुद्धिमान् आदमी इस सबकको अच्छी तरह समझ जायगा, और जीवनके प्रत्येक विभागमें उसका उपयोग भी करेगा कि हमारे समय, हमारी योग्यता और हमारे हृदयपर यदि कोई अधिकारी आदमी उचित माँग पेश करता है, तो उसे देनेमे ही बुद्धिमानी है! निरन्तर देते रहो, क्योंकि पहले या पीछे तुम्हे अपना कर्ज बराबर चुकाना पड़ेगा। थोड़े समयके लिए तुम्हारे न्यायपथके बीचमे कोई मनुष्य या घटनाएँ भले ही बाधक सिद्ध हो, पर यह टलना थोड़े ही समयके लिए होगा। अन्तमें तो तुम्हें अपना कर्ज चुकाना ही होगा। अगर तुम बुद्धिमान् हो, तो तुम ऐसे वैभवसे डरोगे, जो तुम्हारे सिरपर और भी बोझ-स्वरूप बन जाय। उपकार ही प्रकृतिका लक्ष्य है, पर जितना ही अधिक तुम उपकृत होते हो, उतना ही अधिक तुमपर टैक्स लगेगा। महापुरुष वही है, जो अधिक-से-अधिक उपकार करे। वह नीच है—और ससारमे यही एक बडी नीचता है कि उपकार ग्रहण करना और किसीकी भलाई न करना। प्रकृतिका यह कुछ नियम-सा है कि जो लोग हमारे ऊपर उपकार करते है, उनके साथ उपकार करनेका मौका हमे प्रायः नही मिलता, और मिलता भी है तो

बहुत कम। लेकिन जो भी उपकार हमारे साथ किया जाय, जो भी हमे प्राप्त हो, उसे हमें ज्यो-का-त्यो पाई-पाई चुका देना चाहिए, अपने उपकारीको नही, तो किसी दूसरेको। सावधान! कहीं तुम्हारे हाथमे उपकार करनेकी बहुत-सी शक्ति यो ही खाली न पडी रहे। यह शक्ति खाली पडे-पड़े सड जायगी, इसमे कीडे पड़ जायँगे। किसी न किसी ढंगसे इस शक्तिका उपयोग करो।'

द्विवेदीजीने शायद एमर्सनका यह वाक्य न पढा हो, पर वे आचरण इसीके अनुसार कर रहे है। पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण चुकानेके अर्थको उन्होंने खूब हृदयगम किया है। माता-पिता, पत्नी, जाति, देश, मित्र और शत्रु—सबका ऋण वे नियमानुकूल चुकाते रहे है, जब वे साहित्यक युद्ध-क्षेत्रमे थे, तब विरोधियोंका ऋण उन्होने मय ब्याजके चुकाया था, और अब अपनी विनम्रता, दया तथा दानशीलताके भारसे उन्हें दबा दिया है। निरन्तर दान ही द्विवेदीजीकी सजीवताका मुख्य कारण है।

द्विवेदीजीमे सब गुण ही गुण हो, सो बात नहीं। पूर्ण निर्दोष तो इस संसारमे कोई नही। द्विवेदीजीकी नियमबद्धता दुर्गुणकी सीमा तक पहुँच गई है। उन्हें कौन समझावे कि सबके सब पत्र उत्तर देने लायक नहीं होते? किसी महापुरुषने कहा है—"यदि पत्रोंको एक महीने तक डाल रखा जाय, तो बहुत-से अपने-आप अपना उत्तर दे लेते हैं।" अपने स्वास्थ्यकी वर्तमान स्थितिमे द्विवेदीजीको यह अपना आदर्श-वाक्य बना लेना चाहिए। दूसरा दुर्गुण द्विवेदीजीमें यह है कि कभी-कभी वे अनधिकारी आदमियोंको प्रमाणपत्र दे बैठते है। पं० पद्मसिंहजी कहा करते थे कि द्विवेदीजी आशुतोष है, खुश हो गये तो बस औढरदानी समझिए। पर उनके 'औढरदान' का परिणाम स्वयं उन व्यक्तियोके लिए भयंकर सिद्ध होता है। उनका दिमाग़ आसमानपर चढ़ जाता है, और उनके दम्भकी

सीमा नही रहती। स्वयं पं० पद्मसिंहजीमे भो यही दुर्गुण था। उनकी दादसे कितने ही आदमियोका दिमाग़ चढ गया। और यदि धृष्टता क्षन्तव्य समझी जाय, तो हम कहेंगे कि महात्माजी भी इस 'औढरदान' के दुर्गुणसे मुक्त नही है। निस्सन्देह हमारे लिए इन महापुरुषोके दोष दिखलाना अनुचित है, पर ईमानदारीका तक़ाजा है कि जो बात जैसी समझमें आये, वैसी लिख दी जाय।

द्विवेदीजी दूसरोको अपनी सेवाका अवसर बहुत कम देते है। दूसरो की अधिकसे-अधिक सेवा करना और जहाँ तक हो सके दूसरोसे कमसे-कम सेवा लेना उन्होने अपने जीवनका एक नियम-सा बना रखा है। नतीजा यह होता है कि द्विवेदीजी परिश्रम करते-करते स्वयं थक जाते है। उनका यह स्वभाव ही पड गया है—"प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" पर द्विवेदीजीके दुर्गुणोंका आधार भी गुण ही है (Even his failings lean to virtue's side)

द्विवेदीजीके यहाँ चार दिन रहा। घण्टो बातचीत हुई। आतिथ्य तो द्विवेदीजीने महात्माजीके साथ किसी एक ही स्कूलमे पढा है। क्या मजाल कि अस्वस्थ दशामे भी उनसे कोई चूक हो जाय! इन चार दिनोंकी चार घटनाएँ खासतौरसे मेरे अन्तःकरणपर अङ्कित हो गई है।

एक दिन शामके वक़्त द्विवेदीजीको मूर्च्छा आ गई। उसके बाद जब होश आया, तो छोटी लड़कीकी मार्फ़त मेरे पास सन्देश भेजा—"कहिए तो आपके पास आऊँ।" शामको वे अपने समयका घण्टा डेढ़ घण्टा मुझे दिया करते थे। अत्यन्त कमज़ोरीकी हालतमे भी वे आनेके लिए तैयार थे! मैने कहला भेजा—"बस, माफ कीजिए।"

•टहलकर हम लोग लौटे थे। द्विवेदीजीके कमरेके सामने वृक्षोंकी छायामे एक अत्यन्त दुर्बल गाय पड़ी हुई थी। अपने-आप उठ भी नही सकती थी। नौकर उसे उठाकर खड़ा करता था। द्विवेदीजीने आज्ञा दे

रखी थी कि इस गायकी टहलमे कोई कमी न होने पावे। जो चारा इसे रुचे, वही खिलाया जाय। द्विवेदीजी उस गायको देखकर बोले—"इस गायने हमे बहुत दूध पिलाया है, और इसे हम अपनी आँखोंके सामने ही रखते है।" नौकरको आवाज लगाकर कहा—"इसे हरियाली अच्छी लगे, तो वही खिलाओ। थोडे दिन बाद हमारी भी यही हालत होनेवाली है।"

द्विवेदीजी अपने कमरेमे लेटे हुए थे कि वहाँ एक वृद्धा स्त्री आ गई। बर्षीके दिन ६) उधार लेकर उसने ब्राह्मणोंको पेड़े खिला दिये थे। अब खानेके लिए पैसा नही था। अपना दुखडा उसने द्विवेदीजीके सामने रोया। द्विवेदीजीने उसे समझाया कि इस तरह उधार लेकर खर्च नहीं करना चाहिए। उस वृद्धाका एक ही जवाब था—"अगर ऐसा न करती, तो पचास घर हँसते।"

द्विवेदीजीने उसे एक रुपया दिया, और वह चली गई। अपनी छोटी-सी पेंशनमेसे उन्हें प्रायः ऐसे ही खर्च करने पडते है।

तीसरे पहरका वक्त था। द्विवेदीजी विश्राम कर चुके थे। एक पञ्च महाशय आ पहुँचे। एक आदमी एक वृद्धापर नालिश करना चाहता था। उस स्त्रीका पति द्विवेदीजीका कृपापात्र रह चुका था। अब वह विधवा थी। द्विवेदीजी दिलसे नहीं चाहते थे कि उस दीनाहीना वृद्धा स्त्रीपर नालिश हो। उन्होंने पंच महोदयको समझाया भी कि उसके पास क्या रखा है, पर वे कहते थे कि वह आदमी नालिश करना ही चाहता है। द्विवेदीजीकी तबियत उस दिन ठीक नहीं थी। फिर भी वे उठकर बैठ गये। नियमानुसार उन्होंने पॉच आने पैसे लिये और कागजोंकी खानापूरी करना प्रारम्भ किया। नाम लिखा ही था कि चक्कर आ गया। कई मिनट लेटे रहे, फिर उठे, होल्डर उठाया, और फिर खानापूरी की, फिर चक्कर आ गया! लेट रहे। तत्पश्चात् उन्होने पञ्चसे कहा—"भाई,

अब तुम ही खानापूरी कर लो ।" थोडी देर बाद तबीयत कुछ शान्त हुई। द्विवेदीजी बोले—"बुढिया समझती होगी कि दुबेजी सरपंच है, पर यहाँ अपने बापकी भी रियायत नही करनेके ।"

ये चारो घटनाएँ आतिथ्य, कृतज्ञता, दानशीलता और कर्तव्यप्रियताके उदाहरणके रूपमे हमे चिरकाल तक याद रहेगी।

द्विवेदीजीसे मैने प्रार्थना की कि मुझे आशीर्वाद दीजिए।

उन्होंने कहा—"हमारा आशीर्वाद किस कामका ?"

मैने कहा—"मै इस विषयमे प्राचीनतावादी हूँ, बडोंके आशीर्वादमें विश्वास रखता हूँ।"

द्विवेदीजीने कलम उठाई, और निम्न-लिखित आशीर्वाद लिख दिया—

"आत्मानुकूलञ्च विधाय कार्य्यं
सदैव सत्येन पथा प्रयाहि ।
कुर्वन् स्वशक्त्याथ परोपकारं
बनारसीदास सुखी भव त्वम् ॥"

इस आशीर्वादमे मानो द्विवेदीजीने सच्चे सुख पानेका नुसखा ही बतला दिया है। मेरे जैसे कमजोर और अयोग्य आदमीके लिए तो यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, इसलिए प्रबल और योग्यतर आदमियोंके लाभार्थ इसे उद्धृत कर रहा हूँ।

जून १९३३]

सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा

हिन्दी पत्रकार-कलाका पिछला सवासौ वर्षका इतिहास अनेक महत्त्व-पूर्ण घटनाओंसे परिपूर्ण है। यद्यपि उसके बारेमें शुष्क विवरणात्मक ढंगपर लेख तथा निबन्ध लिखे गये है, तथापि वह अब भी अपेक्षा कर रहा है ऐसे सजीव लेखकोंकी, जो उसकी सूखी हड्डियोंमें जान डाल सकें, जो उस नाटकको हमारी आँखोंके सामने चित्रित कर सकें। हमारे बीसियो पूर्वजोंके आत्मत्याग तथा बलिदानकी स्फूर्तिप्रद कथाएँ लिखनेको पडी हुई है, जिनमे कई जीवन चरित्रो तथा पचासों रेखा-चित्रोका मसाला विद्यमान है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी है जो भारतीय पत्रकार-कलाके इतिहासमे स्थान पा सकती है। बाबू बालमकुन्द गुप्तका इस आधारपर नौकरीसे अलग किया जाना कि वे हिन्दोस्थानमे "गवर्मेण्टके विरुद्ध" कडे लेख लिखते है, बालकृष्ण भट्टका अपने गरम विचारोंके कारण नौकरीसे छुटकारा, महावीरप्रसाद द्विवेदीका डेढसौ रुपयेकी सर्विस छोड़कर बीस रुपये महीनेपर 'सरस्वती'का सम्पादन और गणेशशंकर विद्यार्थीका बलिदान इत्यादि घटनाएँ हिन्दी पत्रकार-कलाके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमे लिखी जायेगी। हमारे पथप्रदर्शक पूर्वजोंने जिन-जिन कठिनाइयोंके बीचमे कार्य किया, उनका वर्णन हमारे लिए उत्साहप्रद तो होगा ही, साथ ही हममें कृतज्ञताके भाव भी जाग्रत करेगा। श्राद्ध भारतीय संस्कृतिका एक विशेष गुण है और उसकी भावनाको जीवित तथा जाग्रत बनाये रखनेकी आवश्यकता है।

वैसे हिन्दी-पत्रकारोंका जीवन प्रायः कष्टमय ही रहा है और अब भी उनकी स्थितिमे विशेष सुधार नही हो पाया, फिर भी जैसे कष्ट,

सम्पादकाचार्य रुद्रदत्तजीको अपने अन्तिम दिनोंमें भोगने पड़े, वैसे शायद ही किसी अन्य हिन्दी-पत्रकारको भोगने पड़े हों। वे सचमुच भूखो मर गये! और उनकी इस दुर्दशामय मृत्युके लिए आर्यसमाज तथा हिन्दी जगत् समान रूपसे दोषी है।

चालीस-पैंतालीस वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा हिन्दी-पत्रोंका सम्पादन करनेके बाद औषधि, पथ्य तथा भोजनके लिए तरस-तरसकर प्राण गँवाना, यह अकथनीय दुर्भाग्य था सस्कृतके उस महान् विद्वान्, आर्यसमाजके महोपदेशक तथा शास्त्रार्थकर्ता और हिन्दीके उच्चकोटिके लेखक तथा पत्रकारका, जिसका सम्पूर्ण जीवन ही जनताको शिक्षित बनानेमें बीता था!

× × ×

'चौबेजी, मेरी एक अर्जीका आप अंग्रेजीमे अनुवाद कर दीजिये।'

एक दिन सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजीने घरपर आकर मुझे आज्ञा दी।

बात सन् १९१७ की है। तब मै इन्दौरके डेली कालेजमे हिन्दी अध्यापक था और सम्पादकाचार्यजी भी उन दिनो इन्दौरमें ही विराजमान थे। जो प्रार्थनापत्र वे अनुवादके लिए लाये थे, उसे हम ज्यों-का-त्यो उद्धृत करते है :—

"सेवामे श्रीमन्महोदय प्रधान मन्त्री, इन्दौर राज्य।

"श्रीमन्मान्यवर महोदय,

बहुमान पुरस्सर निवेदन है कि मै प्रायः ४० वा ४५ वर्षसे हिन्दी साहित्यकी सेवा कर रहा हूँ और इतने अवसरमे मैने ऐसा अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जिससे मै ग्रन्थ-रचनाके अतिरिक्त दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रोंका सम्पादन भी उत्तमताके साथ कर सकता हूँ, क्योंकि मै अंग्रेजी, बँगला, गुजराती, और संस्कृत-लेखोका अनुवाद हिन्दी भाषामें कर सकता हूँ।

इससे पूर्व मै श्री महाराज देवास (छोटी पॉती) की सेवामे था और वहॉ ग्रन्थ-रचनाका काम करता था, परन्तु उस Post के Reduction मे आ जानेसे मुझे देवास त्यागना पडा, यद्यपि उक्त श्रीमन्त देवास नरेश्वरने मुझे अनुग्रहपूर्वक 'मालवा समाचार' नामक साप्ताहिक पत्रकी सम्पादकता प्रदान की थी, परन्तु उसका वेतन (Pay) इतना थोथा था कि मै उतनेमे अपने परिवारका पालन नही कर सकता था।

देवास देशाधिपति महाराजकी सेवामे आनेसे पूर्व मै वृन्दावनके 'प्रेम' नामके साप्ताहिक पत्रका सम्पादक था।

मैने अपने जीवनमे नीचे लिखे समाचारपत्रोका सफलतासे सम्पादन किया है :

इन्द्रप्रस्थ प्रकाश, दिल्ली	१ वर्ष
भारतमित्र, कलकत्ता साप्ताहिक व दैनिक	१० ,,
आर्य्यावर्त्त, कलकत्ता	१० ,,
हिन्दी बंगवासी	२ ,,
भारतरत्न, पटना	२ ,,
श्री वेंकटेश्वर समाचार, बम्बई	१ ,,
आर्य्यमित्र, आगरा	६ ,,
सत्यवादी, हरद्वार	१ ,,
हितवार्ता, कलकत्ता	२ ,,
प्रेम, वृन्दावन	२ ,,
मारवाडी, नागपुर	२ ,,

पत्र-सम्पादनके अतिरिक्त मेरे बनाये बहुतसे ग्रन्थ भी प्रचलित है, जैसे साख्यशास्त्रका हिन्दी अनुवाद।

योगशास्त्र और व्यासभाष्यका हिन्दी अनुवाद

वीरसिंह दारोग़ा (उपन्यास)

मनोरंजनी (नाटक)
स्वर्गमें सबजैक्ट कमेटी (प्रहसन)
स्वर्गमे महासभा (प्रहसन)
ध्यान विधि योग
शिक्षा-विज्ञान इत्यादि ।

आजकल मै जर्मन जासूस नामक उपन्यास लिख रहा हूँ, जिसक नमूना इस प्रार्थनापत्रके साथ लगा हुआ है ।

यदि मेरी साहित्य सेवा और दशापर विचार करके श्रीमान् कोई सेवा प्रदान करेंगे तो मै श्रीमानोंका आजन्म कृतज्ञ बना रहूँगा ।

श्रीमानोका आज्ञानुवर्ती
सेवक
रुद्रदत्त"

सम्पादकाचार्यजीके आदेशानुसार मैने अंग्रेजीमे उनकी अर्जी लिख दी। यद्यपि मै सन् १६१०मे उनके दर्शन कर चुका था, जब कि वे आर्य-समाज फ़ीरोज़ाबादके उत्सवपर पधारे थे, उनकी सेवामे आर्यमित्र कार्यालय (आगरा) मे भी उपस्थित हुआ था और इसके सिवा अनेक वर्षोंसे उनकी भाषा-शैलीका प्रशंसक भी रहा था ('स्वर्गमे सबजैक्ट कमैटी', 'स्वर्गमे महासभा' और 'कंठीजनेऊका ब्याह'का पारायण न जाने कितनी बार मैने किया था !) तथापि उस समय तक मुझे इस बातका पता नही था कि हिन्दी पत्रकार-कलाके लिए उन्होने कितनी दीर्घ साधना की है ।

उस दिन श्रद्धेय पडितजीको दयनीय स्थितिमे देखकर हृदयको बडा धक्का लगा । बन्धुवर द्वारिकाप्रसादजी सेवकसे इतना तो मुझे पता लग चुका था कि पॉच रुपये महीनेकी ट्यूशनके लिए पंडितजीको तीन मील तुकोगंज आना-जाना पडता है ।

एक दिन शामके वक्त मै उनके स्थानपर भी पहुँचा। नीचे किसी सुनारकी दुकान थी और उसके ऊपर एक छोटी-सी कोठरीमे, जिसका किराया डेढ रुपये मासिक था, पंडितजी विद्यमान थे और दो पैसेकी एक टीनकी लेम्पके धुँधले प्रकाशमे कुछ लिख रहे थे। उन दिनो पण्डितजीको भोजनका भी कष्ट था। चालीस वर्षकी हिन्दी-साहित्य-सेवाके बाद किसी विद्वान्‌की यह दुर्गति हो सकती है, इसकी कल्पना मैंने स्वप्नमे भी न की थी।

पडितजीकी सेवामे मैंने निवेदन किया, "आप हिन्दी पत्रकार कला-सम्बन्धी अपने अनुभव लिख दें। शायद उनसे कुछ मिल जाय।"

पंडितजीने अनुभव लिखने आरम्भ किये। मुझे आशा थी कि एक हिन्दी-सस्था द्वारा उन्हे कुछ भेट दिला सकूँगा, पर दुर्भाग्यसे उस सस्थाके संचालकोंने उसे अस्वीकृत कर दिया। अतएव जो यत्किंचित् सेवा मुझसे बन पडी, कर दी। पंडितजीको इन्दौरमे कोई काम न मिल सका और वे आगरे लौट आये।

१७ नम्बर १६१६ को उनका स्वर्गवास हो गया। मुसाफिर (आगरा) ने अपने २१ नवम्बरके अकमे लिखा थाः—

"हमे पंडित रुद्रदत्तजीको उनकी अन्तिम बीमारीके कयाममे पैसे-पैसेको मोहताज देखकर बडा दुःख हुआ...पडितजी मरनेके पहले तकरीबन दो-तीन माह बुखार और पेचिशके मर्जमे मुबतला रहे और इस लाजमी बेकारीके अय्याममे उनकी आर्थिक दशा यह रही कि हकीम, डाक्टरोंकी फीस तो दर किनार, दवा खरीदने तकके लिए उन्हे पैसा मुअस्सर न था।"

सन् १८७५ से १६१८ तक ४४ वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा सम्पादन कार्य करनेका यह पुरस्कार था! इस दुःखान्त नाटकमे सबसे अधिक उल्लेख योग्य पार्ट है एक गरीब कम्पोजीटरका, जो अपने पाससे आटा खरीदकर उनके घरपर दे आया करता था!

संक्षिप्त विवरण और कुछ अनुभव

पं० रुद्रदत्तजीका जन्म धामपुर जिला बिजनौरमे मार्गशीर्ष त्रयोदशी संवत् १८११ (सन् १८५४) को हुआ था। उनके पूज्य पिता पं० शशिनाथजी संस्कृतके महान् विद्वान् और ज्योतिषके पूर्ण पंडित थे। रुद्रदत्तजीकी प्रारम्भिक संस्कृत-शिक्षा घरपर ही हुई। तत्पश्चात् अपने चाचाजीके साथ वे वृन्दावन, मथुरा और काशी इत्यादि स्थानोंमे विद्योपार्जन करने चले गये। २१ वर्षकी अवस्थामे आप घर लौटे और कुछ दिन अंग्रेजी पढ़ी। तत्पश्चात् मुरादाबाद और सहारनपुरमे आर्य्यसमाजके उपदेशकके पदपर काम किया। फिर उनका पत्रसम्पादनका कार्य्य प्रारम्भ हुआ, जो आजीवन चलता रहा।

तत्कालीन परिस्थिति

उस युगमे सम्पादकोको किन कठोर परिस्थितियोमे काम करना पडता था, आज हम उनकी कल्पना भी नही कर सकते। श्रीलक्ष्मीकान्तजी भट्ट (स्वर्गीय बालकृष्णजी भट्टके सुपुत्र) ने हमे बतलाया था, "जब एक रुपये पॉच आने (हिन्दी प्रदीपका वार्षिक मूल्य) कहीसे आ जाते तो हमारे घरमे घी आता था।" पत्र संचालक प्रायः सेठ-महाजन होते और उनका जो व्यवहार सम्पादकके प्रति होता वह नितान्त असन्तोषजनक और कल्पना-विहीन था और सरकार भी देशी भाषाके पत्रोको शङ्काकी दृष्टिसे देखती थी। 'आर्य्यविनय' (सहारनपुर) के अपने सम्पादकीय अनुभवोके विषय मे पं० रुद्रदत्तजीने लिखा था :—

"एक समय मुरादाबादके टाउनहालमे आर्य्यसमाजकी ओरसे एक ऐसी सभा हुई कि जिसमे मुरादाबादके रईसोके अतिरिक्त कलक्टर आदि भी सम्मिलित हुए थे। इस सभामे आर्य्यसमाजकी ओरसे कोई वेद मन्त्र नही पढा गया था। इसपर सम्पादककी ओरसे समाजपर आक्षेप 'आर्य्य-

विनय' में प्रकाशित हुआ था। इससे समाजके बहुतसे सभ्य सम्पादकसे रुष्ट हो गये, यद्यपि सम्पादकने 'आर्य्यविनय'के इस मोटो (सिद्धान्त) वचनके अनुसार उक्त आक्षेप किया था "**शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि**" अर्थात् शत्रुके भी गुण और अपने गुरुके भी दोष प्रकाशित कर देने चाहिए। इस पत्रका प्रत्येक अङ्क मुझे डिप्टी कलक्टर साहबको सुनाने जाना पडता था। इस प्रकारसे कई वर्षतक मैंने इस मासिक पत्रको चलाया था।"

एक बार प० रुद्रदत्तजीपर सरकारकी ओरसे मुकदमा चलनेकी आशङ्का हो गई थी, लेकिन हिन्दीके सुप्रसिद्ध सेवक ग्रियर्सन साहबने, जो उन दिनो पटनाके कमिश्नर थे, उनकी रक्षा की थी।

"भारत गवर्मेण्ट जब आफ़िशियल सीक्रेट ऐक्ट पास करके चला चुकी थी, तब मुझे भारतमित्र, बङ्गवासी और हितवार्ताके सम्पादन कार्य्यसे अवकाश मिल गया था और 'आर्य्यावर्त' साप्ताहिक पत्र अपनी समस्त सामग्री सहित दानापुर चला आया था। एक बार मैं दानापुरसे मुजफ्फरपुर और वहाँसे जनकपुर गया था। जनकपुर नैपाल राज्यकी सीमाके अन्तर्गत है।

"जनकपुरसे दस-बारह कोस आगे तक चला गया। वहाँ एक बाउण्ड्री आउटपोस्टके आस-पास कई एक अद्भुत बाते देखीं। एक चौकीमे लगभग सौ गोरे सोलजर और प्रायः २०० बिहारी चौकीदार और कुली देख पडे। मै रातको जागा और मार्गसे थका हुआ था, अतएव विश्राम करना चाहता था; परन्तु थोडी ही देरके पश्चात् एक नैपाली सिपाही आया और मुझसे कहने लगा कि आपको सूबेदार साहब बुलाते है। मै उठा, सिपाहीके साथ नैपाली सरहदकी चौकीमे पहुँचा. . वहाँ जाके देखा कि एक गौर वर्णका मोटा ताजा और तेजस्वी मनुष्य पलङ्गपर बैठा हुआ है। उस तेजस्वी मनुष्यने मुझसे नाम-धाम और आनेका कारण

आदि पूछा. फिर उस मनुष्यने मुझे पण्डित मानकर ५ रुपये दक्षिणा देके सरहद तक पहुँचा दिया. खैर इन तमाशोंको देखकर मै दानापुर लौट आया और कल्पित नवन्यासकी रीतिपर आर्य्यावर्तमें एक लेख प्रकाशित किया। इस लेखके प्रकाशित होते ही बडा कोलाहल मचा। कलकत्तेकी हाईकोर्टसे उस लेखका अंग्रेजी अनुवाद होके पटनेकी पुलिसमे आया और पुलिसके सुपरिण्टेण्डैण्ट साहब दानापुर आके आर्य्यावर्त प्रेससे फाइल आदि ले गये। जब सब प्रकारसे अभियोग चलनेका ठीक-ठाक हो गया तब स्वर्गवासी बाबू रामदीनसिंहजी मुझे साथ लेकर कमिश्नर साहबके पास गये और उनको समझाके कहा कि यह लेख कुछ नही, वरन् देवी भागवतमें जो प्रह्लाद और नर-नारायणके युद्धकी कथा है उसके आधारपर यह नवन्यास लिखा गया है। .... कमिश्नर साहबने पूर्वोक्त लेखको और उसके अंग्रेज़ी अनुवादको आद्योपान्त पढकर कहा कि निस्सन्देह यह एक ऐसा नवन्यास है कि जो आजकलकी अनेक घटनाओंसे मिलता है, परन्तु आप जाइये, सरकारसे इसपर अभियोग नही चल सकता, क्योंकि आपने मार्कण्डेय पुराणके श्लोकोंसे अपने लेखको मिला दिया है। इन कमिश्नरका नाम ग्रियर्सन साहब था।"

स्वभाव

पंडितजीके स्वभावमे विचित्र मनमौजीपन था। श्रीबाबूराम शर्मा रसवैद्यने अपने एक लेखमे लिखा था, "दीर्घसूत्रताके साथ पंडितजीका घनिष्ठ सम्बन्ध था। पत्रके लिए प्रति सप्ताह ठीक समयपर कापी देना उनके लिए प्रायः असम्भव बात थी, इसलिए प्रेस मैनेजर (प्रबन्ध लेखक) से उनकी यदा कदा कहासुनी हो जाया करती थी, परन्तु यह पारस्परिक वाग्युद्ध क्षणस्थायी ही होता था। . .

...पंडितजीने अर्थसंग्रहको कभी भी अपने जीवनका उद्देश्य नही बनाया। जहाँ वे स्वेच्छाओंको पूर्ण करनेमे निस्सकोच भावसे द्रव्यका व्यय कर डालते थे, वहाँ दूसरोंको खिलाने-पिलानेमे बडी उदारतासे काम लेते थे और ऐसा करनेमे परमानन्दका अनुभव करते थे। अपने हाथसे अँगीठीपर विविध प्रकारकी खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करके अपने इष्ट-मित्रोंको खिलानेमे उन्हे अतीव प्रसन्नता हुआ करती थी और इसके साथ या तो शेरखानी जारी रहती थी, अथवा सस्कृतके कूट श्लोकोंका पाठ अथवा कोई धार्मिक, सामाजिक या ऐतिहासिक प्रसंग छिड जाता था।. .

उनके चित्तमे बडी दया थी। किसी भूखे-प्यासेको देखकर उसे खिला-पिला देना उनके लिए एक साधारण-सी बात थी। साधारणसे साधारण स्थितिके व्यक्तियोके दुःख-दर्दमे सम्मिलित होकर उसके प्रतिकार-की चेष्टा करना उनका स्वभाव था। ऐसे कोमल हृदय, करुणाशील और परोपकारी सज्जनको अपने अन्तिम दिन बडे ही कष्ट और यातनाओमे व्यतीत करने पडे, इससे अधिक खेदकी बात और क्या हो सकती है!"

एक प्रस्ताव

आर्य्यसमाजके नेताओंसे तथा हिन्दी जगत्के धनीधोरियोसे हमारी प्रार्थना है कि यदि वे और कुछ न कर सके तो स्वर्गीय पं० रुद्रदत्तजीके कुछ निबन्धोंको उनके सस्मरणोके साथ पुस्तकाकारमे छपा ही दे। इसमे हजार-बारहसौका खर्च है।

जिस व्यक्तिने ४४-४५ वर्ष तक अपनी वाणी तथा लेखनीसे हिन्दी संसार और आर्य्यजगत्का इतना हित किया और जिसे अन्तमे भूखों मरना पडा, क्या उसकी स्मृति-रक्षाके लिए हम इतना भी न कर सकेंगे?

मीर साहब

मुसलमानोंको हिन्दी अवश्य पढ़नी चाहिए, और हमे? हमे उर्दू पढनेकी आवश्यकता नहीं। दक्षिण भारतके निवासियोका यह कर्तव्य है, यह धर्म है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दीका अध्ययन करे, और हमारा कर्तव्य क्या है? तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नडी भाषा पढ़ना हमारे लिए बिलकुल व्यर्थ है! बंगालियोंमे प्रान्तीयताका प्राबल्य है, वे हिन्दीकी ओर ध्यान नही देते। और हम लोगोमे किस चीजका प्राबल्य है? अवश्य ही हम लोगोंमें मिशनरी स्पिरिटका प्राबल्य है, जब कि लाखो ही हिन्दी भाषा-भाषी करोडों रुपये इस भूमिसे कमाकर अपने-अपने प्रान्तोको भेजते है और इस भूमिमे राष्ट्र-भाषाके प्रचारार्थ एक कानी कौडी भी खर्च करना हराम समझते है। जब काका साहब कालेलकरने एक हिन्दी प्रोफेसरसे कहा कि हमे दक्षिण भारतमे हिन्दी प्रचार करते समय अनेक कठिनाइयोका सामना करना पडता है, तो उक्त अध्यापक महोदयने उत्तर दिया कि इसमे क्या है, ये कठिनाइयाँ तो चुटकी बजाते दूर हो जायेगी। काका साहबने पूछा कैसे? उत्तर मिला—"हम दक्षिण भारतवालोसे कहेंगे कि भारतमे शासनका केन्द्र सदा उत्तरमे ही रहा है, इसलिए आप उत्तर भारतकी भाषा हिन्दीको पढिए।" इस तर्कको सुनकर हमारे दक्षिण भारतके एक मित्र श्रीयुत नारायण स्वामी अय्यरने उत्तर दिया—"उत्तर भारतमे जो मानसून पहुँचते है वे दक्षिणसे ही आते है, इसलिए आप लोगोंको दक्षिण भारतकी भाषाएँ पढ़नी चाहिएँ।"

हाँ, तो मुसलमानोंको हिन्दी अवश्य पढ़नी चाहिए। मीर साहब (सैयद अमीरअली मीर) ने हिन्दी ही पढ़ी थी। साहित्य-सेवा और

साहित्य-सेवियोंके विषयमे उनके विचार कितने उदार और व्यापक थे, इसका अनुमान पाठक निम्नलिखित पंक्तियोंसे, जो मीर साहबने २०-१० २६ को अपने एक पत्रमे राजा लक्ष्मणसिंहकी शताब्दीके अवसरपर लिख भेजी थी, कर सकते हैः—

"समकालीन भारतीय कवि और लेखक यदि ऐसा साहित्य निर्माण करें जो लोगोंको प्रेमरज्जुसे बाँध दे, सगठन करना सिखा दे, हमारी धर्म-भावनाओंको स्पर्धारहित कर दे, आत्म-गौरवके साथ हमे यह कहनेका साहस दिला दे कि घरमे हम १०० और ५ (कौरव-पाण्डव) भले ही हो, पर बाहरके लिए १०५ है, और इतना ही क्यो, काम पड़नेपर शान्तिके साथ देशकी वेदीपर हँसते-हँसते बलि हो जानेका आत्मबल उनमें आ जाय, घर, समाज और उपासना मन्दिरोंमे वे उन धर्मोंका पालन करते हुए देखे जायें, जिन्हें उनकी आत्माने स्वीकृत किया हो, किन्तु जब वे देशके प्राङ्गणमें, एकत्र हो तब जननी जन्म-भूमिके नाते सहोदर भाईकी तरह कन्धे-से-कन्धे भिडाकर खड़े हो, भाईके मानापमानको अपना मानापमान जानें, एकके सुखसे सब सुखी और दुःखसे सब दुःखी हो जायें। यदि हम समयके अनुकूल ऐसा साहित्य उत्पन्न न करके पुरानी लकीरको ही पीटनेका अभ्यास जारी रखेंगे, तो हमलोग अवनतिके गहरे गड्ढेसे कभी बाहर न निकल सकेंगे।

"ऊपर जिस विशुद्ध साहित्यके निर्माण करनेके सम्बन्धमें निवेदन किया गया है, वैसे साहित्य निर्माणके लिए सुयोग्य साहित्यज्ञोंकी आवश्यकता है। स्वभावतः धनी-मानी तो साहित्यज्ञ होते नहीं है, जो होते है वे प्रायः निर्धन कुलमे जन्म लेनेवाले। वे होश सम्हालते ही नमक, तेल, लकडीकी चिन्तामे पड जाते है! समृद्धिशाली भारतके पूत अपने ही देश, अपने ही घरमे, अपने ही भाइयों द्वारा न तो सम्मान पानेके अधिकारी हैं, न पेटभर रोटियाँ पानेके। आज भारतमें अनेक अभागे कौडियोंके मोलपर अपनी विद्या-बुद्धि बेचना चाहते हैं, पर कोई लेनेवाला नहीं। मुझे स्मरण है अभी

हालमें एक साहित्य सभाके नामीगरामी सभापतिने एक मेरे सम्भ्रान्त मित्रसे अपना भाषण पीठ ठोक-ठोंककर लिखवाया। बदलेमें सभापति महोदयने साहित्यप्रेमियोंमें तालियोंकी गड़गड़ाहट लूटी, परन्तु लेखकने पाई केवल पचास रुपल्ली! बेचारा मन मारकर रह गया। वर्तमान कानून भी ऐसे मानकी रक्षा करनेमें सहायक हैं। किसकी मजाल है कि नाम लिखकर सबूत करदे? स्वयं इन पंक्तियोंके लेखकको एक पदाधिकारी साहित्याचार्यने एक काव्यग्रन्थके सम्पादन-कार्यमें प्रलोभन देकर कसकर जोता, पर काम हो जानेपर रास्ता दिखला दिया! एक और मेरे जाने-माने आशुकवि हैं। मुझे मालूम है कि उनकी जीविका सुखमय नहीं है। इतने कथनका तात्पर्य यह है कि जरूरत इस बातकी आ पड़ी है कि साहित्य-सेवियोंकी जीविकाका उचित प्रबन्ध किया जाय। अधिकार तथा धन प्राप्त प्रभुओंके हृदयमें यह बात जँचा देनेकी जरूरत है कि विलायती कुत्ते खरीदने, सिनेमा कम्पनीके शेयर लेने, गौहरजान, बन्दी जानकी प्रसन्नता प्राप्त करने आदिसे न आपका भला होगा, न जिनके पैसेके बलपर आप ऐश्वर्यभोगी बने हुए हैं, उनका होगा।"

स्वयं इन आर्थिक कठिनाइयोंके कारण श्रीमान् मीर साहबको एक रियासतकी नौकरी करनी पड़ी थी। उनकी अन्तरात्माको इससे कितना कष्ट हुआ था और साहित्य क्षेत्रमें आनेके लिए उनकी आत्मा कैसे छट-पटाती थी, इसका वृत्तान्त पाठकोंको निम्नलिखित पत्रसे मिल सकता है:—

"पंडितजी, एक पेन्शनर आदमीकी तरह मैं हिन्दी-साहित्य-सेवाकी ओरसे उदासीन-सा हो गया हूँ इसका मुझे दुःख है। जिस साहित्यसेवासे सेवक अपने नामको अजर-अमर कर जाता है, उसीकी ओरसे मेरा पराङ्-मुख हो जाना खेदकी बात है। इसे मैं अपना पतन समझता हूँ, और पतनका प्रारम्भ उस दिनसे मानता हूँ, जिस दिनसे मैंने एक देशी राज-स्थानमें कदम रखा और राजसेवाके लिए आगे बढ़ा। सोचा कुछ और

था, हुआ कुछ और। राजसेवा तो एक ओर रह गई, राजसेवाके लिए शरीर बिक-सा गया। आजादीका नाम-निशान मिट गया। आँखे एक तो ऊपर उठती ही नही थी, यदि उठती ही थीं तो राजा साहबका रुख देखनेके लिए। कान बाहरी चर्चा सुननेके लिए बहरे थे, लेकिन राजासाहबके श्रीमुखसे शब्द निकलनेके पूर्व ही (ओष्ठ-स्पन्दन होते ही) सतर्क हो जाते थे। जिह्वा हाँमे हाँ मिलानेकी आदी हो गई। सबसे बडी सजा इसे ही मिली। चौबीसो घण्टे, तीसों दिन, बारहों महीना उसे बत्तीस दाँतोके भीतर एक एकान्तवासी कैदीकी तरह रहना पडता था। उसे अपनी ओरसे बोलनेका कोई हक ही नही रह गया था। हाथ दीन-दुखियोको सहायताके लिए शायद ही कभी आगे बढे हो। रेलवे सिगनलको तरह वह राजा साहबकी मर्जी पर उठते और गिरते थे, राजा साहबको देखते ही पैर धरतीमे धँस-से जाते थे, लेकिन उनके शासनपर हवाकी तरह वेगवान हो जाते थे। इन बाह्य इन्द्रियोके व्यापारमे पडकर मन भी मर गया। उसमे भी अपना कुछ न रह गया। निदान मै जिन साहित्य-सेवियोके साथ साहित्य-क्षेत्रमे चल रहा था, उनका साथ छूट गया। अब मै एक पख कटे पक्षीकी तरह तडफता तो हूँ, लेकिन उड नहीं सकता।"

मीर साहबको एक अन्य जमीदार साहबके यहाँ काम करना पडा। परिस्थितिका अन्दाज़ निम्नलिखित पक्तियोंसे हो सकता है:—

"आपके दो कृपापत्र मिले। उत्तर बहुत विलम्बसे दे रहा हूँ। गत अगस्त मासमे जमीदारीके काममे कई बार बाहर जाना-आना पडा। इसके अलावा आफिस क्लार्क बीमार होकर अगस्त मासकी ५ ता० को चला गया है। दूसरे क्लार्कके देनेकी कृपा जमीदार साहबने नही की। उन्हें मालूम है कि मैनेजर ऐसा नर है, जो पीर बबर्ची भिस्ती खरकी उक्तिको चरितार्थ कर सकता है। महाजनी साल दीवालीको समाप्त होता है, इसलिए साल तमामका हिसाब और रिपोर्ट भी इन्ही दिनों तैयार करनी

पड़ती है। दीवानी झगड़े सदा दीवाना बनाते ही रहते है, इसपर उम्रका तकाज़ा भी है। घरकी झञ्झटोको छोड देता हूँ। इस कारण अवकाश नही मिल रहा है। जिन श्रीमान्के यहाँ मै हूँ वह वर्तमान सरकारके अनन्य भक्त है। तुलसीदासजीने नव प्रकारकी भक्तियाँ गिनाई है। अतः ईश्वरकी भक्ति करनेवाले भी नव प्रकारके भक्त होते है। ये राजभक्तिके खिताबी (रायबहादुर) भक्त है। मालूम नही किस सख्यामे इनकी गणना की जाय। ये साहित्यके सम्बन्धमे इतना ही जानते है कि उसमे राजको उलट देनेकी शरारत (?) के सिवा और कुछ नही है। इसलिए वे अपने नौकरको किसी साधारण सभामे भी जानेकी इजाजत नहीं देते। खुद भी कुछ नही करते और दूसरोको भी नही करने देते। वे अपने विभवकी रक्षा वर्तमान राज्य-रक्षामे ही समझते है।"

मीर साहबसे कबसे पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ, यह बात निश्चयपूर्वक नही कह सकता। आजसे १८, १६ वर्ष पहले जब स्वर्गीय सत्यनारायणजी कविरत्नका 'मालती माधव' का अनुवाद प्रकाशित हुआ था, उस समय मैने उसकी एक प्रति मीर साहबकी सेवामे भेजी भी थी। मीर साहबने उसकी स्वीकृतिमे एक बडा सुन्दर पत्र भेजा था। वह पत्र तो दुर्भाग्यवश मुझसे खो गया, पर उसमे लिखी हुई कविता अब भी मुझे कण्ठस्थ है—

"भारत-मानसजा ब्रजभाषाकी माधुरी जामें रही सरसाई
भावते भावभरे भवभूतिके भारत-नीतिकी नीकी निकाई
ओज प्रसाद-मई कविताकी बही सरिता-सी सदा सुखदाई
भाइ है मीर मनै मनमोहिनी मालती माधव मजुलताई"

मीर साहबका लिखा हुआ "बूढेका ब्याह" मुझे बहुत पसन्द आया था, और उसे मैने कई बार पढा और दूसरोंको सुनाया भी था। जिन लोगोने 'मर्यादा'मे प्रकाशित मीर साहबके खोजपूर्ण लेख "मुहर मीमासा" को पढ़ा, वे उससे प्रभावित हुए बिना न रहे। क्या ही अच्छा होता यदि

यह विद्वत्ता साहित्य-क्षेत्रकी सेवामे लगाई जा सकती, पर दुर्भाग्यवश ऐसा नही हो सका। 'समालोचक' नामक पत्रमे अवश्य पच्चीस रुपये महीनेकी नौकरी उन्हे मिली थी। एक बार जब 'प्रेमा' मे श्रीयुत जहूरबख्शजीका एक लेख निकला था तो उसमे कुछ भ्रमात्मक बाते छप गई थी, यद्यपि लेख सदुद्देश्यसे लिखा गया प्रतीत होता था। उस लेखकी भ्रमपूर्ण बातोके विषयमे मैंने मीर साहबसे पूछा था। उन्होंने अपने १७-४-३१ के पत्रमें लिखा था :—

"समालोचक-सम्पादकने ३० रु० मासिकपर नही, २५ रु० पर रखा था। 'समालोचक' को त्यागकर मै नही भाग निकला, बल्कि अर्थाभावके कारण 'समालोचक' मेरा भार सम्भाल न सका। इसके सिवा मैं भाई अब्दुलगनीके सामने आजाद न था, और भाई गनी २३, २४ वर्षीय नव जवान आदमी थे। और मै ५४ सालका बूढा पेशनर बैठाल देने योग्य आदमी था, इसलिए विचारोमे सामञ्जस्य स्वभावतः सम्भव न था, तो भी ग़नीने अन्त तक मेरा मान रखा। इसलिए मै उनका कृतज्ञ हूँ।"

मीर साहबका हिन्दी-प्रेम

मीरसाहबके विषयमे श्रीरामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता-कौमुदी' द्वितीय भागमे एक सुन्दर परिचयात्मक लेख है। उसमेसे हम निम्नलिखित अंश उद्धृत करते है :—

"सन् १८९५ देवरीमे "मीर मण्डल कवि समाज" की स्थापना हुई। मीर साहबकी अध्यक्षतामे इस कवि समाजने लगातार सात-आठ वर्षों तक खूब काम किया। इतने समय तक देवरीमें साहित्यविषयक चर्चा जोरोके साथ चलती रही। इसके फलस्वरूप यहाँके कुछ नवयुवको तथा विद्यार्थियोकी रुचि साहित्यकी ओर आकर्षित हुई। इनके शिष्य-समुदायमेंसे अनेक आज सुकवि, लेखक, ग्रन्थप्रकाशक तथा सुचित्रकारके नामसे ख्यात

हो रहे है। इनके दिये उत्साह और श्री लक्ष्मीनारायण वकील, औरंगाबाद की आर्थिक सहायता से श्रीयुत मंजु सुशील ने 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिकाका सपादन उसकी प्रारम्भिक दशामे योग्यता पूर्वक किया। उसमे मीर साहबका विशेष हाथ रहा करता था। इसी समय श्री नाथूराम प्रेमीसे 'जैन मित्र' मे लेख लिखाना प्रारम्भ कराया। परिणाम यह हुआ कि वे आगे चलकर उसी पत्रके सम्पादक हो गये। मीर साहबका विचार था कि इस कसबेमे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय, जिससे कुछ सुयोग्य सम्पादक, लेखक, कवि, व्याख्याता और वैद्य होकर जनताकी सेवा करने लगे, परन्तु इस विचारमें ये सफलता प्राप्त न कर सके, जिसका इन्हें आज भी खेद है।

"देवरीमे सन् १९०७ मे जिस समय पहली बार प्लेगका आक्रमण हुआ, उस समय वहॉके मालगुजार स्वर्गीय लाला भवानीप्रसादके अर्थ-साहाय्यसे मीर साहबने जनताकी प्रशंसनीय सेवा की थी। इनके हाथसे लगभग ४७५ आदमियोंकी चिकित्सा हुई थी, जिसमे सैकडा पीछे ८३ रोगियोंको आरोग्य प्राप्त हुआ था।

"इनके शान्त प्रयत्नसे देवरीमे स्वदेशी कपडे तथा शक्करका खूब प्रचार हुआ था। मीर साहब गोरक्षाके भी बहुत पक्षपाती है। इनके मतसे भारतमे कृषिकार्यके लिए गो-वशकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। ये कहा करते है कि यदि गोवंशका विनाश जारी रहा तो निकट भविष्यमे यहॉके किसानोंको विलायती बिजारोका मुहताज होना पडेगा। बहुत दिन पहले कलकत्तेके हासानन्द वर्माने गोरक्षाके लिए चन्देकी अपील की थी। उस समय इन्होने देवरीमे बडा परिश्रम करके चन्दा भिजवाया था। इनकी प्रतिभा हिन्दू शास्त्र और पुराणोके कथाप्रसग जाननेमे बहुत बढी चढ़ी है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर इनको अतुल अनु-राग है। इनकी भाषा खूब परिमार्जित हिन्दी है।"

हम लोगोंकी अदूरदर्शिता

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट है कि मीर साहब हिन्दू संस्कृतिसे कितने प्रभावित थे और हिन्दीके लिए उन्होंने क्या-क्या उद्योग किये। मीर साहबकी सहृदयता तथा सद्भावनाका पता उनकी कविताओंसे लग सकता है। क्या हम लोगोंका यह कर्तव्य नहीं था कि हम ऐसे सहृदय सज्जनकी धार्मिक भावनाओंका सम्मान करते?

अपने २१-६-३४ के पत्रमे मीर साहबने लिखा था—"हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके कर्णधार मेरे एक अवाछित किन्तु विवश होकर किये हुए कामसे शायद नाराज हो गये है। मुझसे अपराध यह बना था कि श्री. .. के एक सम्पादकीय लेखसे जो उन्होने ३-४ वर्ष पूर्व 'सम्मेलन-पत्रिका'मे प्रकाशित किया था, मुझे दुःख हुआ था। उन्होने जोर दिया था कि हिंदीमेंसे उर्दूको निकाल बाहर करो। जो सम्मेलन एक बार नही, दो बार यह बात स्वीकार कर चुका हो कि हिन्दी-उर्दूमे लिपिभेदके सिवा और कुछ भेद नहीं है, उसी सम्मेलनकी प्रमुख पत्रिका द्वारा उर्दूके बहिष्कारका आयोजन किया जाय, यह कैसा आश्चर्य है। मै प्रारम्भसे स्थायी समितिका नाममात्रका सभासद् था। मैंने उस सभासदीसे इस्तीफा दे दिया। कारण साफ लिख दिया कि मै नहीं चाहता कि जब कभी हिन्दी-विकासका सच्चा इतिहास लिखा जाय—जो अवश्य ही लिखा जायगा—उसमे यह भी लिखे जानेका अवसर मिले कि उर्दूके बहिष्कारके समय एक मीर ज़ाफर भी था! सम्मेलनने एक बार त्यागपत्रपर विचार करनेका अवसर तो दिया था, लेकिन मेरे समाधानका कोई यत्न न किया था, जिसका यही अर्थ हो सकता है कि सम्मेलन उक्त सज्जनकी रायका समर्थक है। किसी पत्र या पत्रिकाने इसका विरोध किया था या नहीं, सो मुझे मालूम नहीं।"

यह पत्र पानेपर मैंने मीर साहबकी सेवामे स्वर्गीय प० पद्मसिंहजी शर्मा द्वारा लिखित और हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित "हिन्दी

उर्दू और हिन्दुस्तानी" नामक निबन्ध भेज दिया था, जिसे पढकर वे अत्यत प्रसन्न हुए, और उन्होंने अपने ६-१०-३४ के पत्रमे मुझे लिखा था—

"आपने कृपाकर मेरे अज्ञान अन्धकारको दूर करने तथा जिज्ञासा-की पूर्ति करनेके लिए जो "हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी" शीर्षक निबन्ध पुस्तकाकारमे भेज दिया है, तदर्थ अनेक धन्यवाद। दुःखकी बात है कि आज प० पद्मसिंह शर्मा हम लोगोमे नहीं हैं। ऐसी चमत्कृत और परिष्कृत बुद्धिवाला निरपेक्ष विद्वान् यदि कुछ दिन और जीवित रहता तो अपना पक्ष प्रबल करके हिन्दीका भला कर जाता। हिन्दीका भला हिन्दू-मुसल-मानोका भला ही नहीं, प्रत्युत देशका भला कहलाता। निबन्धपर आपने विस्तृत समालोचना लिखनेका आदेश दिया है। भला मै और आलोचना? जिस विद्वान्‌की लेखनीने 'विहारी-विहार' की समुचित समालोचना करके विद्यावारिधि जैसे उपाधिधारियोंके छक्के छुडा दिये थे, उसकी कृतिकी आलोचना यदि मेरे समान व्यक्ति करे तो कहना होगा कि बौना (वामन) एड़ी उठाकर आकाश छूना चाहता है। मैं इस निबन्धको अब तक हिन्दी-उर्दूके पक्ष-विपक्षमे लिखे गये लेखो, निबन्धों और पुस्तकोंकी समुचित विवेचनाके पश्चात् एक ऐसा फैसला मानता हूँ जो मानो हर पहलुओपर नजर करके किया गया हो। मेरा खयाल है कि प्रिवी कौंसिलके फैसलेके समान यह फैसला बहुत समय तक अटल रहेगा, भावी इतिहासकार स्वर्गीय शर्माजीको हिन्दी-उर्दू विप्लवको दूर कराके समता-स्थापन करनेवाला 'लेनिन' कहेंगे।"

जब 'इस्लामका विष-वृक्ष' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय श्री मीर साहबको बडा दुःख हुआ था। इस विषयपर उनके कई पत्र भी आये थे। २२-७-३३ के पत्रमे उन्होंने लिखा—"किसी धर्म, जाति या व्यक्तिविशेषपर किये जानेवाले बेजा आक्षेपोंको मैं बिलकुल पसन्द नहीं

करता। इस प्रकारकी मनोवृत्तिको राजप्रभावसे उत्तेजन मिलता है, ऐसा भी कहा जा सकता है।"

८-८-३३ के पत्रमे मीर साहबने फिर लिखा था—"गत रात्रिको 'विषवृक्ष' के ६६ पन्ने पढ डाले। पढ़नेसे पहले मैने अपने मनको पक्का कर लिया था, इसलिए उसे निरपेक्ष दृष्टिसे ही पढ़ा। मै मानता हूँ कि पुस्तकको ऐतिहासिक ढगसे लिखनेका प्रयास लेखकने किया है, पर उसके लिखनेमे उन्होंने जिन लेखको और पुस्तकोंकी दुहाई दी है, प्रायः वे सब मुस्लिम विरोधियोंमे-से है, जो विपक्षीको हानि पहुँचानेकी दृष्टिसे ही लिखी गई है। आज भी भारतके संबधका इतिहास यदि हम यूरोपकी पुस्तकोंके आधारपर लिखे, तो सिवा इसके कि भारतीय अयोग्य, अशिक्षित और अदूरदर्शी है और क्या लिखेंगे? लेखकने **'पिये रुधिर पय ना पिये लगी पयोधर जोक'** वाली उक्तिको चरितार्थ किया है।"

हम चाहते तो यह है कि मुसलमान लोग हिन्दीकी अधिकाधिक सेवा करे, पर उनकी धार्मिक भावनाओंकी रक्षा करनेके बजाय उन्हें उल्टी चोट पहुँचाते है।

मीर साहब साम्प्रदायिकतासे घृणा करते थे और उसके असली कारणों-को भी पहचानते थे। अपने ६-१०-३४ के पत्रमे उन्होंने लिखा था—"आपके विशुद्ध राष्ट्रिय हृदयका मुझे पता है। आपका हृदय साम्प्रदायिक झगडोको देखकर दुःखी होता है, लेकिन मेरा अनुमान है कि साम्प्रदा-यिकताके विषवृक्ष उस समय तक हरेभरे बने रहेंगे, जबतक उन्हें वर्तमान शासनकी उर्वरा भूमि आश्रय देती रहेगी और धर्म नामकी नदियोंसे (नालियोसे कहना अधिक उपयुक्त होगा) पानी मिलता रहेगा। निकट भविष्यमें इनके सूखनेके लक्षण दिखाई नहीं देते। भारतको सन् १६१६ में या शायद २० में जो रिफार्म मिला, उसके परिणामस्वरूप साम्प्रदा-यिकतामे बाढ़-सी आ गई। चुनाव सम्बन्धी पृथक् निर्वाचन प्रथा भारतके

लिए अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुई है। इतने पर सफेद कागज, जिसे कोरा कागज भी कह सकते हैं, इस कुप्रथाकी रजिस्ट्री करने आ रहा है। एक तो यो ही धनवादने चुनावके सम्बन्धमें गुणका द्वार बन्द कर रखा है। वोटरोंका चुनाव धनके पैमानेसे किया जाता है। इसपर दी तो जाती है राष्ट्रकी दुहाई, परन्तु अमलमें लाया जाता है पन्थ-पक्ष, धर्म-पक्ष नहीं। मेरी ईश्वरभक्ति और आशावादिता मुझे विश्वास दिलाती है कि अभी समय नहीं आया। ईश्वरकी कृपाकोर दूसरी ओर ही है। कविवर रहीमने ठीक ही कहा है:—

"अब रहीम चुप ह्वै रहौ, समुझि दिननको फेर
जब दिन नीके आइ हैं, बनत न लगि है देर।"

फिर लिखा था—"१४ अक्टूबरके बाद आप कुछ दिन आगरेमें रहेंगे, यह सूचना मिल चुकी है। आवश्यकता होगी तो आगरेके पतेपर पत्र भेजूँगा। सुना जा रहा है कि आरती और नमाजका झगडा वहाँ अब तक जारी है। आश्चर्यकी बात है कि मन्दिर भी पुराना है और मसजिद भी पुरानी है, आज तक न तो आरती ही बन्द हुई होगी न नमाज। फिर यह नया झगड़ा कैसा? पृथक् निर्वाचनका बुरा हो, यह सब उसीकी करामात है। धर्म (मानव) के मर्मको न समझ सकनेका यह परिणाम है।"

जब महात्मा गान्धीके सभापतित्वमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका इन्दौरमें दूसरी बार अधिवेशन होनेवाला था, उस समय हमने साहित्य-परिषद्के लिए मीर साहबका नाम उपस्थित किया था। सितम्बर सन् १९३४ के विशाल भारतमें हमने लिखा था:—

"साहित्य-सम्मेलनके साथ जो अन्य परिषदें हुआ करती है, उनके विषयमें हमें कुछ भी कहनेका अधिकार नही। हाँ, केवल साहित्य-परिषद्के विषयमें एक बात कहनी है। वह यह कि उक्त परिषद्का सभापतित्व इस बार सैयद अमीर अली मीरको समर्पित किया जाना चाहिए। मीर साहबके

पक्षमें कई बातें कही जा सकती है। सर्वप्रथम बात तो यह है कि वे इस पदके सर्वथा योग्य है। पचीस-तीस वर्षसे वे निस्स्वार्थ भावसे साहित्य-सेवा कर रहे है। उनका जीवन एक निर्धन साहित्यिकका जीवन है, जिसमे कष्टो की भरमार होती है और गुणग्राहकताका अभाव, जो उस रेगिस्तानकी तरह है, जिसमे कोई नखलिस्तान नही, कोई हरी-भरी भूमि नहीं।

"दूसरा कारण जिसे हम कम महत्त्व नही देते, यह है कि अभी तक हमने हिन्दी-साहित्यसेवी मुसलमानोंका समुचित सम्मान नही किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अकेले हिन्दुओकी चीज तो है नहीं, और सच पूछा जाय तो प्राचीन हिन्दी-साहित्यका एक तिहाई भाग या तो मुसलमान लेखको का लिखा हुआ है, अथवा उसका निर्माण मुसलमान शासकोकी संरक्षकता मे हुआ था। क्या हम महान् सेवाको कभी भूल सकते है, जो रहीम, रसखान, सम्राट् अकबर इत्यादिने हिन्दी-भाषाकी की थी? अकेले रहीमने ही लाखो रुपये दान देकर अनेक हिन्दी-कवियोंको प्रोत्साहित किया था, और स्वयं तो वे ऊँचे दर्जेके कवि थे ही। उनके दोहे आज प्रत्येक हिन्दी प्रेमीकी जबानपर है, और लोकप्रियताकी दृष्टिसे रहीम के दोहोको जो स्थान मिला है, वह कविवर विहारीके दोहोको भी नही मिल सका।

"कृतज्ञताका तो तकाजा है ही, साथ ही यदि हम चाहते है कि हिंदी साहित्य-सम्मेलन केवल हिन्दुओंकी ही सस्था न बनी रहे और उसका दायरा अधिक विस्तृत हो तो हमे किसी सुयोग्य मुसलमान भाईको उसका सभापति बनाना चाहिए। इस प्रकार मीर साहबका हक अन्य किसी सभापतिके हकसे दूना हो जाता है।"

मेरे इस नोटको पढ़कर मीर साहबने लिखा था:—"रामने अत्रि आदि ऋषियोंको जो आनन्द दिया, क्या निषाद, शवरी और जटायुको उससे कम दिया? संसारके साधारण नियमके अनुसार अत्रि आदि तो आदरके पात्र थे ही किन्तु न थे तो निषादादि। इसलिए उन्हे जो आदर रामकी

ओरसे मिला वह सर्वथा सराहनीय है। आज आप लोग भी मुझे—निषादादिके समान व्यक्तिको—ऊपर उठाकर आदर देनेको लालायित हो रहे है। इस सबंधमें हिन्दीप्रेमी तथा विज्ञजनोंको दोषी नहीं ठहरा सकता, जैन-साहित्यमे एक षण्मासिक कवि हुआ है, जो वर्षमे केवल दो पद्य रच सकता था। उनकी ख्याति यदि हेमचन्द्रादिके समान नही हुई तो कौन-सा आश्चर्य है? मैंने हिन्दी-सेवाका आज तक कोई ठोस काम नही किया। कोई अजर-अमर ग्रन्थ भी नही रचा। साधारण हिन्दीके सिवा कोई दूसरी भाषा भी नही पढ़ी। घरकी चौखट छोडकर बाहर कदम भी नहीं रखा। ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तिको केवल बुढापेका मान देकर आप हिन्दी-साहित्यको कौन-सा लाभ पहुँचा सकेंगे? ये पंक्तियाँ मै आपके हृदयको दुखानेको नही, विशुद्ध भावनासे लिख रहा हूँ। जिस समय मुमताज अली आपके पाससे लौटकर आया था, उस समय भी आपने इसी प्रकारकी इच्छा प्रकट की थी। उस समय आप मुझे कलकत्तेकी किसी सभामे हिन्दी व्याख्यान देते हुए देखना चाहते थे और अब इन्दौरमें, वह भी महात्मा गान्धी-जैसे असाधारण व्यक्तिके सामने। "रवि सम्मुख खद्योत अँजोरी" की उक्ति चरितार्थ होगी।"

दूसरे पत्रमे मीर साहबने लिखा था—"अब रही साहित्य-परिषद्के सभापतिके पदकी बात। इस सम्बन्धमे हाँ कहना तो दीक्षा लेनेके समान सरल किन्तु 'निवाह' सीधा देनेके समान दुरूह होगा! सभापतिका उत्तर-दायित्व बहुत बड़ा है। मै स्वयंको उस पदके सर्वथा अयोग्य पाता हूँ। इस समय हिन्दी-साहित्य-रथके रथी सस्कृतके सिवा पाश्चात्य विद्याके धुरन्धर विद्वान् हैं। उनका सन्तोष एक साधारण हिन्दी जाननेवाला केवल आयु (बूढे) और जाति (मुस्लिम) होनेके नाते कैसे करा सकेगा? सहज सुहृद्वर! नाम और मान पानेकी इच्छा मनुष्यमे नेचरल है। मै भी मनुष्य ही हूँ, लेकिन साहस करना जैसे और बात है, किन्तु दुस्साहस

और ? कहीं ऐसा न हो कि मेरी स्वीकृति समयपर दुस्साहस समझी जाय, मैं अयोग्य साबित होऊँ और उस समय आप सहित मेरे समस्त शुभैषी मित्रोंको लज्जित होना पड़े। यदि आप यह चाहते है कि भावी इतिहासकार यह न कह सके कि जिस मुस्लिम जातिने हिन्दीका केवल नामकरण संस्कार ही नही किया, प्रत्युत उसे शाही दरबार तक पहुँचाकर उर्दू ए मुअल्लाका पद दिला दिया, उस मुस्लिम जातिको बीसवी सदीमें हिन्दी साहित्यिज्ञोंने आदर-सम्मान नहीं किया तो मै कहूँगा कि इस कामके लिए श्री अबुल-कलाम आजाद या अल्लामा सुलेमान नदवीको चुनिये। आपको पछताना न पड़ेगा, हिन्दी साहित्यको अभूतपूर्व प्रगति मिलेगी। यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी मुसलमानोंसे ही किसीको चुनना है तो श्री पीरमुहम्मद मूनिस (बेतिया) को चुनिये या श्री अख्तरहुसेन रायपुरीको। ये लोग अप टू डेट है, आप भी इनसे परिचित है ही। यदि आपकी इच्छा मुझे ही ठोक-पीटकर वैद्यराज बनानेकी है, तो वायदा कीजिए कि भाषण लिखनेकी सामग्री केवल जुटा ही न देंगे, वरन् काम पडनेपर लिख भी देंगे और मैदाने जंगमे पुश्तपनाह रहेंगे। इस अभयदानको देकर भाषणकी रूपरेखा (सक्षिप्त-नोट्स) लिख भेजिए, जिसमें मै तत्सम्बन्धी मसाला जुटाने लगूँ। बूढी लेखनी है, बहुत धीरे-धीरे चलेगी।"

दुःखकी बात है कि सम्मेलनके कर्णधारोंने मेरे इस प्रस्तावपर कि मीर साहबको साहित्य-परिषद्‌का सभापति बनाया जाय, कोई ध्यान नहीं दिया! 'कर्मवीर' को छोडकर अन्य किसी पत्रने उसका समर्थन भी नहीं किया!

एक चिट्ठीमे मैने मीर साहबकी सेवामें निवेदन किया था कि हमलोग अपने साहित्य-सेवियोंका उचित सम्मान नहीं करते, हिन्दी संसारका यह बडा भारी दोष है, उसका उत्तर देते हुए मीर साहबने लिखा था—"हिन्दी संसार दोषी नहीं है, मैं दोषी हूँ। मै न जाने कितने वर्षों से हिन्दी क्षेत्रसे ग़ैरहाजिर हूँ। अब जिनके हाथमे हिन्दीका मैदान है, वे मशीन युगके

शाता है, मेरा पुराने ढर्रेका छकडा उनके साथ कैसे चल सकता है ? मेरा ख्याल है कि आजकलके हिन्दी साहित्यिक लेखादि पाश्चात्य साहित्यके ऋणी रहते है। जिन बैकोंसे आधुनिक लेखक लेन-देन करते है, उनमे मेरा खाता नही खुल सकता। लाचार हूँ!"

मीर साहबकी उपेक्षा

कर्मवीर सम्पादक श्री माखनलालजी चतुर्वेदीने गत ३० जनवरीके अकमें लिखा है, "हमे तो यही दुःख है कि हमने मीर साहबको उपेक्षित अवस्थामे मर जाने दिया।" पर उपेक्षाकी कोई हद भी होती है! अपने २१-६-३४के पत्रमे मीर साहबने लिखा था—"जिस हिन्दी-साहित्य और मुसलमान शीर्षक लेखको कुछ सशोधनके साथ ही सही, आपने 'विशाल भारत' के साहित्यिकमे स्थान देकर उत्साह बढ़ाया था, वह मुजफ्फरपुरके हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके लिए लिखा और भेजा गया था। मालूम नहीं वह वहाँ पेश भी किया गया था या नहीं, क्योकि कई पत्र भेजनेपर भी न तो मुजफ्फरपुरसे कोई उत्तर मिला, न प्रयागसे ? वह कार्य-विवरण पुस्तकमे छपा या नही इसका भी पता नही मिला! अभी जो लेख "मातृभाषाकी महत्ता" सम्बन्धी द्विवेदी-मेला-समिति द्वारा चुना जाकर प्रकाशनार्थ सम्मेलनको दिया गया है, उस सम्बन्धमें भी उक्त समितिके मन्त्रीजीके पास मै दो-तीन पत्र भेज चुका हूँ कि उक्त लेखको सम्मेलन एक बार ही छपा सकेगा। और उसकी छपी प्रथमावृत्ति दो अढाई सालके अन्दर चाहे बिक जावे या नहीं, द्वितीयावृत्तिके छापने या छपवानेका अधिकार मेरा होगा, कोई उत्तर नहीं मिला! इसका मुख्य कारण सम्मेलनका मौन ही होगा, मन्त्री बेचारे क्या करे ?"

६-१०-३४ के पत्रमे मीर साहबने मुझसे फिर पूछा था—"श्री द्विवेदीजीको जो अभिनन्दन ग्रन्थ भेटमें दिया गया है, उसमे 'राजचर्या'

शीर्षक कोई कविता छपी है क्या ? वह मैने भेजी थी। हिन्दी साहित्य-सम्मेलनोके कार्य-विवरण पुस्तकोमे भेजे निबन्धोंको स्थान मिला है या नही ?"

वह बूढा साहित्यसेवी कम-से-कम इतनी उपेक्षाके तो योग्य न था। जब हम ख्याल करते है कि यह उपेक्षा एक ऐसे मुसलिम सज्जनके साथ की गई है जो जिन्दगी भर निर्धनताके साथ युद्ध करते हुए भी हिन्दी-साहित्यकी सेवा करता रहा, तो और भी खेद होता है।

आज मीर साहबके एक लेखके निम्नलिखित शब्द हमे याद आ रहे है—

"भारतीय मुसलमानोने हिन्दू-साहित्यसे काव्य, ज्योतिष, सामुद्रिक, संगीत, नीति, नाटक तथा गणित, इतिहास, पिंगल, रस-निरूपण, वैद्यक, भक्ति और वेदान्त आदि ललित कलाओका ज्ञान इतना उच्च श्रेणीका प्राप्त किया था कि हिन्दुओको भी आश्चर्य होता होगा। क्या यह कम अभिमानकी बात है कि रसलीन जैसे भाषाकाव्यके प्रकाण्ड पडित आचार्य कहलावे, मलिक मुहम्मद महाकवि गिने जॉय, अकरमकैज संस्कृतमें "वृत्त-माल" जैसा पिंगल ग्रन्थ निर्माण करे, अकबर खॉ अजयगढी 'योगदर्पण-सार' जैसा वैद्यक ग्रन्थ लिखे, ताहिर छन्दबद्ध "कोकशास्त्र" लिखकर नाम पावे, बीजापुरका इब्राहीम आदिलशाह बादशाह होकर नवों रसो और रागोपर ग्रन्थ लिखे और हिन्दीको (फारसी हटाकर) राज्य-भाषाके पदपर बिठावें। क्या यह कम उदारताकी बात है ? अमीर खुसरोसे पूर्व हिन्दीमें 'पहेली' और मुकरियॉ किस हिन्दी कविने लिखी थी ? 'नूरक और चन्दा' प्रणेता मुलतान दाऊदसे पहले हिन्दीमे प्रेमकथा लिखनेका मार्ग किसने प्रशस्त किया था ?

"खूबीकी बात तो यह है कि साधारण श्रेणीके मुसलमानोंसे लेकर बड़े-बड़े उच्च कर्मचारी सेनापति और प्रधान मन्त्री तक तथा मनसबदारोंसे लेकर बादशाह तक हिन्दीके रंगमे रँग जाते थे, ये कविता पढ़ते, रचना

करते, अनुवाद करते और उदारतापूर्वक कवियोको आश्रय दे ग्रन्थ रचना कराते थे।

"मुग़ल दरबारोंमें हिन्दी कवियोंकी भीड लगी रहती थी। उनमेंसे कितने कवि तो इतने मालदार हो गये थे कि वे दूसरे कवियोको अयाचक बना देते थे। शाहजहॉनी दरबारके कवि हरिनाथने एक कविको एक दोहे पर एक लाख रुपया दे डाला था। उपर्युक्त बातोको ध्यानमे रखकर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दीको जीवित रखने और उसको राष्ट्रभाषा बनानेमें मुसलमानोका जबरदस्त हाथ रहा है।"

और कुछ नहीं तो मुसलमानोंकी हिन्दी-साहित्यसेवाका खयाल करके ही हमे मीर साहबकी उपेक्षा न करनी चाहिए थी।

शतपति मीर साहब

'द्विवेदी-मेले' के अवसरपर पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीने अपने पाससे सौ रुपयेका पुरस्कार इसलिए दिया था कि वह मातृ-भाषाकी महत्ता पर लिखे गये सर्वोत्तम निबन्धके लेखकको दिया जाय।

इस प्रतियोगितामे मीर साहबने भी भाग लिया था, यह समाचार जानकर मुझे आश्चर्य हुआ। मीर साहबकी आर्थिक परिस्थितिके विषयमे मुझे उस समय कुछ भी पता न था। मैने इस बातपर अपने एक पत्रमे धृष्टतापूर्वक बतौर इशारेके कुछ ऐतराज किया। इस पर मीर साहबने अपने २६-८-३४ के पत्रमें लिखा था—"पिछले पत्रमे आपने पुरस्कार प्रतियोगितामे भाग लेने के कारण मेरे सम्बन्धमे पश्चात्ताप प्रकट किया है। इसका अहसास मुझे था। मै लेख 'मातृभाषाकी महत्ता' लिखते तो लिख गया और साहस करके भेज भी दिया। लेकिन अन्त तक यह भय सताता रहा कि निर्णायक कमेटीके सदस्योंमेसे यदि कोई ऐसा व्यक्ति

हो, जो मुझे स्नेहकी दृष्टिसे देखता हो, कही ऐसा न हो कि मेरा लेख मुझे उसकी नजरोंसे गिराये, और यह भी सही है कि लोभने ही मुझसे वह लेख लिखाया था। आप विश्वास कीजिए कि स्टेट सर्विस—वह भी पुलिसकी—रहनेपर भी मेरे पास कभी सौ रुपये जमा नही हुए। वर्तमान द्विवेदी पुरस्कारने इतना तो किया कि मुझे 'शतपति' बना दिया। वे रुपये मकान बनानेके लिए जमीन लेनेकी इच्छासे बैंकमे पानेके दिन ही जमा करा दिये है। इस समय मै खानाबदोश हूँ।"

इस पत्रको पढ़कर बडा खेद हुआ और अपनी धृष्टतापर बडी लज्जा आई। मीर साहबको मेरी बात याद रही और उन्होने फिर मुझे लिखा था :—

"प्रतियोगिता सम्बन्धी लेखमें भाग लेकर सचमुच मैने अच्छा न किया था, परन्तु वास्तविक बात प्रलोभनके सिवा और कुछ न थी। आपको आश्चर्य होगा कि मेरे पास कभी १००) जमा नही हुए। इसीलिए मैने उन्हे उसी दिन बैंकमे जमा करा दिया है।' अब आप मुझे 'लखपति', 'करोडपति' आदिके समान (कुछ दिनके लिए) शतपति कह सकेंगे।"

इस प्रकार बूढे हिन्दू तपस्वी महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी कठिन कमाईके सौ रुपयेसे दूसरा बूढा मुसलमान तपस्वी शतपति बना। हिन्दी साहित्यके इतिहासमे यह घटना चिरकाल तक जीवित रहकर निर्धन साहित्य सेवियोंको गर्वोन्नत और पूँजीपति हिन्दी भाषा-भाषियोको लज्जित करती रहेगी।

मेरा पछतावा

फरवरी १६३५ में मीर साहबका पत्र मिला :—

"आप वर्धा तशरीफ ले जाना चाहते हैं, इसलिए आपने जानना चाहा है कि क्या मार्ग उधर ही होकर है। श्रीमान्! हॉ! इधर ही होकर है!

बिलकुल इधर ही होकर !! शीघ्र सूचना देनेकी कृपा करें कि आप किस तारीखकी मेलसे रवाना होंगे।"

उस समय मैं वर्धा नहीं जा सका, पर मेरा पत्र समयपर न मिलनेके कारण मीर साहब स्टेशन तक हैरान भी हुए। और जब अक्टूबर १९३५ में वर्धा गया भी तो भाटापारे उतर नहीं सका, सोचा था कि लौटते समय उतरूँगा और मीर साहबसे हाथ जोडकर कहूँगा, "क्षमा कीजिए मुझे आपकी हालतका पता नहीं था, नहीं तो आपके सौ रुपये पुरस्कारके लिए प्रतियोगिता करनेपर कदापि आक्षेप न करता।" पर यह क्षमाप्राप्ति मेरे भाग्यमें बदी न थी। गत २१ ता० की शामको डाक खोली तो बिलास-पुरके श्रीयुत प्यारेलालजी गुप्तका पत्र मिला, "आपको यह जानकर शोक होगा कि श्रद्धेय मीर साहबकी मृत्यु रेलवे दुर्घटना द्वारा हो गई है।" इस जिन्दगीमें एकाध 'करोड़पति' तथा अनेकों 'लखपतियों' से मिला हूँ और इस अभागे जीवनमें अभी न जाने कितनोंसे मिलना पड़ेगा, पर 'खानाबदोश' 'शतपति' मीर साहबके दर्शन न कर सका—न कर सका।

श्री किशोरीलालजी गोस्वामी

स्वर्गीय गोस्वामीजीके दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे तीन बार प्राप्त हुआ था, पहली बार तो सन् १९१७ मे हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके इन्दौर-वाले अधिवेशनके पूर्व, दूसरी बार वृन्दावनके सम्मेलनपर और तीसरी बार काशीमे आजसे चार पॉच वर्ष पूर्व। इन तीन अवसरोंपर मैने उन्हें भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें देखा। इन्दौर सम्मेलनमे साहित्य-विभागके मत्रीकी हैसियतसे मै लेख मॉगनेके लिए उनकी सेवामे वृन्दावन पहुॅचा था। ऊपरके विस्तृत कमरेमे बैठे हुए थे। चारो ओर किताबोंके ढेर लगे हुए थे। कही कुछ छपे छपाये फार्म रखे हुए थे, कहीं वी० पी० पार्सल डाकखाने जानेके लिए तैयार थे, प्रेससे प्रूफ देखनेके लिए आ रहे थे और गोस्वामीजीके सुपुत्र छबीलेलालजीकी कहानियोंकी किताब छप रही थी, गरज यह कि काम बड़े ज़ोरोंके साथ चल रहा था। उस समय तक श्री छबीलेलालजीके सिरपर हुब्बलवतनीका जिन सवार नहीं हुआ था और वे शुद्ध साहित्यिक जीव थे। गोस्वामीजी उस समय साधनसम्पन्न थे, और उनकी बातचीतमें उत्साह था। अपने पिछले ३० वर्षके अनुभ-व की उन्होंने कितनी ही बातें सुनाईं। ग्रियर्सन साहबसे उनका जो पत्र-व्यव-हार तथा परिचय हुआ था, उसका जिक्र किया और अपनी एक छोटी-सी पुस्तक उस समयकी छपी हुई दिखलाई, जब हमारा जन्म भी नही हुआ था! गोस्वामीजीकी किसी पुस्तकका अनुवाद मराठीमे हुआ था, उसका भी उन्होंने जिक्र किया। उन दिनो भी गोस्वामीजीको इस बातकी कुछ शिकायत थी कि हिन्दी-सस्थाएँ उनके साथ यथोचित व्यवहार नहीं करती। साहित्यिक प्रदर्शनियोंपर वे बराबर अपनी किताबे भेजा करते थे, पर वे

कहींसे वापस नहीं आती थी ! अपने साहित्यिकोंका सम्मान करना तो हिन्दीवाले जानते ही नहीं, इस बातका भी गोस्वामीजीने प्रसगवश ज़िक्र किया था। गोस्वामीजीके यहाँसे मै प्रभावित होकर लौटा। हृदयमे इच्छा हुई कि यदि मै भी इसी तरहका लेखक होता तो कैसा अच्छा होता।

• वृन्दावन सम्मेलनके अवसरपर गोस्वामीजी काशीसे पधारे थे। कवि-सम्मेलनमें उन्होने बड़े उत्साहसे भाग लिया था, और उनके पुत्र श्री छबीलेलालजीने इधर-उधर घूम-घूमकर सम्मेलनकी सफलताके लिए प्रयत्न किया था। गोस्वामीजीमे पुराने उत्साहकी झलक बाकी थी, यद्यपि छबीले-लालकी लीडरी उन्हें बहुत महँगी पडी थी। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीनने प्रतापमे एक बार मज़ेदार रसिया छपवाया था। जिसका प्रारम्भ इस प्रकार होता था:—

"हुब्बलवतनीको मरोरा छोरा ले डारैगो तोहि
हुब्बलवतनीको मरोरा।"

श्री छबीलेलालजीने अपने पिताजीके प्रकाशन-कार्यको नितान्त उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा था। आवश्यकता इस बातकी थी कि प्रेसकी उन्नति करके उनके ग्रन्थ नये आकार-प्रकारसे छपाये जाते, और उनकी बिक्रीका उचित प्रबन्ध होता, पर छबीलेलालजी व्याख्यानबाजीमे लगे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि बाजारमे छबीलेलालजीका मोल बढगया, लेकिन उनके पिताजीकी पुस्तकोंका मोल घट गया। इधर जनताकी रुचिमे भी परिवर्तन हो रहा था। इन सब परिस्थितियोंने मिलकर श्री गोस्वामीजीकी आर्थिक स्थितिपर जबरदस्त प्रभाव डाला था, फिर भी उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक सब कुछ सहन किया था, और उनकी जिन्दादिलीमे किसी तरहका अन्तर नहीं पडा था।

काशीमे पिछली बार जब मैंने उनके दर्शन किये, उस समय उनमे स्फूर्ति बहुत कम रह गई थी। बढती हुई उम्रका तकाज़ा था, गार्हस्थिक

परेशानियाँ थी, साथ ही यह पछतावा भी था कि छबीलेलालजीने साहित्य-सेवासे सदाके लिए मुँह मोड लिया था। बड़े खेद-पूर्वक उन्होंने कहा भी, "छबीलेलाल अच्छी कहानियाँ लिखने लग गया था, आजकलके अनेक गल्पलेखकोसे पहले उसने लिखना शुरू किया था, पर उसने राजनैतिक झंझटोमें पडकर सारा साहित्यिक काम चौपट कर दिया।"

इस समय गोस्वामीजीकी बातोसे यह खेदजनक ध्वनि और भी स्पष्टतया निकलती थी कि हिन्दी जनताने उनका यथोचित सम्मान नही किया। उनसे जूनियर आदमी सम्मानित हो चुके थे, और उनका किसीने नाम भी नही लिया था! पर गोस्वामीजी मौजी आदमी थे, शिकायतके निरुत्साहप्रद वायुमंडलमे अधिक देर साँस लेना उन्हें नापसन्द था, और उनकी जिन्दादिलीकी पुरानी स्पिरिट अब भी बाकी थी। उन्होने शृङ्गार रसकी कई कविताएँ सुनाईं, जिनमे एकका नाम था 'बारेकी नारि' या 'बालककी वनिता'। कविताका प्रारम्भ इस प्रकार होता था।

"निज बालम बारे निहारि अली मन मेरो हमेस पियासो रहे।"

चारो चरणोके अन्तमे 'पियासो रहे' भिन्न-भिन्न अर्थोंमें आया था। शृङ्गार रसके बाद आपने अपनी लिखी उर्दूकी कुछ गजलें सुनाईं।

हो जवाँमर्द न डर करके छिपो अन्दर यों,
बढके दो हाथ चला डालो न ख़ंजर बाहर।
जो जवाँमर्द हैं मरनेसे नहीं डरते वह,
आबरू रखते हैं दुश्मनसे निबटकर बाहर।
जिनको जोरूके न लहँगेमें जगह मिलती थी,
वह भी मुरदार, बने आज है लीडर बाहर।

देखते घरमें तमाशा हैं लड़ानेवाले,
लड़ रहे शौक़से हैं ख़ास बिरादर बाहर।

हिन्दीकी आबरू तुमसे न रहेगी यारो,
घरमें बैठे हुए फेंका करो पत्थर बाहर।

तत्पश्चात् अपना पद सुनाया—

श्री हरि अपनी ओर निहारहु।
कामी कुटिल पातकी दुर्जन जानि न मोहि बिसारहु
कोटि कोटि खल जैसे तारे तैसेहि मोहि उबारहु
रसिक किसोरी सरनागत लखि अब करुणाकरि तारहु।

इसके बाद गोस्वामीजी अपनी एक पुरानी नोट-बुक ले आये, और उसमेंसे कितने ही मनोरंजक कवित्त और किस्से सुनाने लगे। उन्होंने बतलाया कि एक बार हिन्दी और उर्दूके विषयमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्री राधाचरण गोस्वामी, श्री प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्टने एक-एक पद्य कहा था। पद्य मुझे पसन्द आये, और मैंने उसी वक़्त उन्हें अपनी नोटबुकमें दर्ज कर लिया। आप भी सुन लीजिये।

बभूवतुस्ते व्रजभूमि द्वे सुते
स्वजन्मबीजेन विभिन्नमार्गे।
तयोस्तु हिन्दीकुलकामिनी वरा
कनिष्ठिकोर्दू कथिता विलासिनी॥

—स्वामी दयानन्द

सब गुन ले हिन्दी भई व्रजभाषाके कोष
तापर जो उरदू भई, सो गुन रहित सदोष।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हुईं सैकड़ों ब्रजभाषाकी यद्यपि बिटिया ललित ललाम
पर उन सबमें हिन्दी और उर्दूने ही पाया नाम।
—बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन'

द्वे सुते ब्रजभाषाया हिन्दी चोर्दू बभूवतुः
आद्या वरांगना चान्या ख्याता वारांगना भुवि।
—राधाचरण गोस्वामी

है बड़ी हिन्दी व उर्दू उसकी छोटी बहन है
आईं ब्रजभाषासे दोनों यह बड़ोंकी कहन है।
—प्रतापनारायण मिश्र

दुइ बिटियाँ ब्रजभाषाकी हैं हिन्दी उर्दू सुन्दर नार
जेठी महलनमें है पैठी लौहरी बैठी जाइ बजार।
—बालकृष्ण भट्ट

कई घण्टे तक गोस्वामीजीके सत्संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मनमे इच्छा भी हुई कि कई दिन तक उनकी सेवामें बिताकर पुरानी बातोंके नोट ले लूँ, पर अपनी दीर्घसूत्रतावश वैसा न कर सका। इस अवसरपर मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि गोस्वामीजीके काशीवाले घरसे मैं उस प्रकारके उत्साहके भाव लेकर नहीं लौटा, जिस प्रकारके भाव सन् १६१७ मे उनके वृन्दावनवाले कार्यालयसे लेकर लौटा था। इसके कई कारण हो सकते है। सम्भवतः मेरी मनोवृत्तिमें ही परिवर्तन हो गया था, अथवा सकटग्रस्त होनेके कारण उनके व्यक्तित्वमें ही प्रभावोत्पादक शक्तिकी कमी हो गई हो। व्यक्तित्वको निरन्तर प्रभावोत्पादक बनाये रखनेके लिए तप और त्याग, निश्चित अवकाश तथा आर्थिक सुविधाकी नितान्त आवश्यकता होती है और सम्भवतः विकट परिस्थितियोंने गोस्वामी-जीके लिए उतना अवसर ही न छोड़ा था कि वे अपने व्यक्तित्वको विशेष

आकर्षक बनाये रखते। आर्थिक संकट व्यक्तित्वका कितना बडा विघातक है, इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते है। पर किसी भी हालतमें वे उस उपेक्षाके योग्य न थे, जो उनकी ओर प्रदर्शित की गई थी। मरनेके कुछ घंटे पहले उन्होंने श्री छबीलेलालजीसे कहा था—

"तुम्हें इस बातपर आश्चर्य और दुःख है कि मेरी बीमारीमे काशीका कोई भी हिन्दी-साहित्यसेवी देखने-सुनने नही आया, पर मै इसे ईश्वरका अनुग्रह समझता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे अन्त समय तक कोई भी आनेकी कृपा न करे। निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीप के समान मैने आजीवन आँधी-तूफानोको देखा। जो कुछ कहा-सुना गया, उसे शान्तिसे सहन किया, और अब अन्तिम समय भी उस शान्तिमे विघ्न न हो, यही चाहता हूँ। जगदीश्वर यहाँके साहित्य-सेवियोंकी मति ठीक रखे, और वे मुझपर अनुग्रह-प्रकाश करनेकी उदारता न करे।"

"'आज' मे बीमारीकी सूचना छपनेपर मुझे आशा थी कि कुछ लोग अवश्य आयेंगे", छबीलेलालजीने कहा।

"तुमने न कभी संसारको पहचाना और न पहचान ही सकोगे। इस चर्चाको बन्द करो। इस समय केवल गीताके कृष्णकी चर्चा करो।" गोस्वामीजीने कहा।

गोस्वामीजीने अपने समयमे मातृभाषाके लिए जो कार्य किया था, वह वास्तवमें महत्त्वपूर्ण था, और यद्यपि समयकी गति उन्हें पीछे छोड गई थी, तथापि वे अपने ढंगके निराले आदमी थे, और उनकी सेवाओंको भूल जाना घोर कृतघ्नताकी बात होगी।

श्री कृष्णबलदेव वर्मा

"आप मुझे शायद न जानते होंगे, मेरा नाम कृष्णबलदेव है।"
एक वयोवृद्ध सज्जनने 'विशाल भारत' कार्यालयमें पधारकर अपना परिचय इस प्रकार दिया। बात तेरह वर्ष पहलेकी है, पर वर्माजीकी वह मुखमुद्रा, जिससे अकृत्रिम स्नेह और विनम्रता टपकती थी, मुझे ज्यो-की-त्यों याद है।

मैने उत्तर दिया, "सरस्वतीके किसी पुराने अङ्कमे—२०-२५ वर्ष पहलेका कोई अङ्क था—आपका चित्र मैने देखा था।"

"हाँ, ठीक बात है, वही हूँ।"—

इतना कहकर वर्माजी बिराज गये और 'विशाल भारत'के प्रूफ़ देखना शुरू कर दिया! मै हैरान था कि ये अजीब आदमी है! वर्माजीने उन त्रुटियोका संशोधन किया, जो मुझसे छूट गई थीं, और कई घण्टे काम करके चलते वक्त कहा—

"आप किसी तरहका सकोच न कीजिए। कलकत्ता आपके लिए नई जगह है और मै यहाँ वर्षोंसे रहता हूँ। किसी तरहका कष्ट हो तो मुझसे कहिये।"

फिर तो वर्माजीसे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया कि उनकी प्रेमपूर्ण डॉट अक्सर सुननेको मिलती थी। कभी किसीसे मिलाने ले जाते तो कभी किसीसे। खास तौरपर मेरी वस्त्रसम्बन्धी 'अव्यवस्थासे' वे सख्त नाराज रहते थे। जब वे कहते "चौबेजी तुम बड़े सिल्लकबिल्ले हो, जरा सलीक़ा तो सीखो।" मै हँस देता था।

वर्माजीको एक धुन थी (उस समय मै उसे खप्त समझता था) यानी वे हर वक्त बुन्देलखण्ड तथा 'केशव'की रट लगाये रहते थे। केशवकी पचासों रचनाएँ उन्हें कण्ठस्थ थीं और उनकी स्मरण-शक्ति देखकर दङ्ग रह जाना पडता था।

. जब वर्माजी बुन्देलखण्डकी प्रशसा करने लगते तो फिर उनकी जबान थकती न थी। ऐसा प्रतीत होता था कि बेतवा नदीमे बाढ आ गई है। यदि उनका वश चलता तो वे 'विशाल भारत' को बुन्देलखण्ड प्रान्तका मुखपत्र ही बना डालते। जब देखिए तब बुन्देलखण्ड प्रान्तके विषयमे कोई न कोई लेख या चित्र लिये मौजूद है ? उनके आग्रहपर बुन्देलखण्ड विषयक कितने ही लेख मैंने 'विशाल भारत'मे प्रकाशित भी किये, पर उनको तृप्त करना असम्भव था।

अपनी मृत्युके तीन महीने पहले उन्होंने श्रीयुत गौरीशङ्करजी द्विवेदीको लिखा था:—

"पूज्यवर,

प्रणाम। आपको यह जानकर दुःख होगा कि मै ता० २३ को इलाहाबाद गया। वहाँसे ओरियटल कान्फ्रेस अटेण्ड करने पाटलीपुत्र गया। वहाँसे बौद्धकालीन यूनिवर्सिटी नालन्दा, राजगिरि, वैशाली, सहस्राम आदि देखनेको था कि पाटलीपुत्रमे सख्त बीमार पड गया, और यहाँ काशी अपने भानजे डाक्टर अचलबिहारी सेठ एम० बी०; बी० एस्-सी० (मेडिकल आफिसर सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल बनारस) के पास लौट आया। परसों सबेरे मेरे रोगने भयानक रूप धारण किया। हार्ट सिक होने लग, नाटिका बैठ चली। विश्वनाथजीसे आप सब मित्रोंकी मङ्गलकामना करते हुए अटलनिद्रा लेनेको ही था कि डाक्टरके इन्जेक्शन और मकरध्वजके डोजोंने हार्ट एण्ड नाटिकाको सँभाल लिया। अब मैं इम्प्रूव कर रहा हूँ।

और अभी जबतक बिलकुल ठीक नहीं हो जाऊँगा, तबतक आठ-दस दिन यहाँ रहूँगा। यदि कैलाश-लाभ कर लूँगा तो मेरी शुभकामनाओंको सदैव अपने साथ समझिएगा और सदैव मातृभाषाकी सेवामे रत रहियेगा। बुन्देलखण्डके गौरवका ध्यान रहे। सोते-जागते जो कुछ लिखिए-पढ़िए वह मातृ-भूमिके गौरवके सम्बन्धमे ही हो। शोक, मैं इस बीमारीके कारण शैयासीन होनेसे सुधाके 'ओरछाक'को अभी कुछ नहीं लिख सका हूँ। एक पुराना लेख 'बुन्देलखण्डका चित्तौर ओरछा दुर्ग, था वह सरस्वतीको दे दिया था। १ तारीख तक आपके पास उसकी प्रति पहुँचेगी तथा एक प्रति महाराज साहबकी सेवामे, एक दीवान साहबको सेवामें पहुँचेगी। उसे आप अवश्य देखिएगा। लेख सचित्र है, उसमे ओरछाका गौरव है। चित्तौराधिपति प्रतापपर, वीर-शिरोमणि वीर-सिंहदेवका ऐतिहासिक प्रमाणोके साथ प्राधान्य है। चित्तौरसे ओरछा गौरवशाली है, यह भाव है। यदि आठ दिन और जीवित रहा तो सुधाके अङ्कके लिए लेख पहुँचेगा।"

यह कहनेकी आवश्यकता नही कि मातृ-भूमिसे उनका अभिप्राय बुन्देलखण्डसे ही था। मै उन दिनो उनकी इस भक्तिको 'अन्ध-श्रद्धा' तथा 'प्रान्तीयता' ही समझता था और साथ-ही-साथ मेरा यह भी ख्याल था कि वर्माजी अपने प्रान्तकी जो प्रशंसा करते है, उसमे बहुत कुछ अत्युक्ति है। अब इस भूमिमे तीन वर्ष रहनेके बाद मुझे अपनी यह भ्रमात्मक धारणा दूर कर देनी पडी है। यहाँ आकर मै अपने प्रान्त यानी ब्रजमण्डल का प्रेमी बन गया हूँ और मेरे मनमे यह आकांक्षा उत्पन्न हो गई है कि मै भी आगे चलकर अपने ब्रजमण्डलके प्रति वैसी ही भक्ति हृदयमे धारण कर सकूँ, जैसी स्वर्गीय वर्माजीमे बुन्देलखण्डके प्रति थी।

अपने ८। ३। २६ के पत्रमे उन्होने बन्धुवर गौरीशंकरजी द्विवेदीको लिखा था:—

"मै बुन्देलखण्डके इतिहास तथा प्रख्यातिके लिए, जो कुछ सम्भव है, कर रहा हूँ। मुझे बुन्देलखण्डसे प्रीति और भक्ति है। **मै मरकर फिर वही जन्म लेना चाहता हूँ।** वह पावन-क्षेत्र है, वह वीर-भूमि है, उसका इतिहास समुज्ज्वल है। आपने देख लिया होगा कि बुन्देलखण्डका जहाँ कोई नाम भी न जानता था वहाँ उसकी अब कितनी ख्याति है। यहाँ कलकत्तेमे विशाल भारत लेक्चर सीरीज मैजिक लेटर्न द्वारा प्रदर्शित करनेका जो प्रबन्ध हुआ है, उसमे दो लेक्चर्स बुन्देलखण्डके इतिहास, मन्दिर व मूर्ति-निर्माण, कला-साहित्य व वीरचरित्रपर भी मेरे है। अब मेरा आपका और सबका कर्तव्य है कि बुन्देलखण्डके इस गौरवको जीवित रक्खे और ख्यातिको बढावे।"

जहाँ-कहीं वे जाते, अपने प्रान्तकी चर्चा किये बिना न रहते। हिन्दुस्तानी एकेडेमीसे उन्होंने यह तय कर लिया था कि वे स्वय कवीन्द्र केशवदासके ग्रन्थोंका सम्पादन करेंगे। इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत डाक्टर कालिदास नागको उन्होंने इस बातके लिए राजी कर लिया था कि वे इस प्रान्तका दौरा उनके साथ करेंगे और परिषदो, कान्फ्रेंसो तथा सम्मेलनोंमे उनके जानेका मुख्य उद्देश्य यही होता था कि वे अन्वेषकों तथा विद्वानोका ध्यान इस प्रान्तकी ओर आकर्षित करे।

किसीसे वे हरदौलके गीत मँगाते थे तो किसीसे सारङ्गाका गीत। दिन-रात उन्हें इसी प्रान्तकी फिक्र थी और उनके पत्रोमे बस यहींकी चर्चा रहती थी।

"राज्य लाइब्रेरीमें पता लगाइए कि कवीन्द्र केशवदासजीके किन-किन ग्रन्थोंकी हस्तलिपि वहाँ मौजूद है।"

"झाँसीके श्री श्रवणप्रसादजीको लिखिए कि वे गीत इत्यादिका संग्रह करावे।"

"गुरुजी पं० बालकृष्णदेवजीसे पूछिए कि क्या केशवके ग्रन्थोकी कोई प्रति उनके पास भी है?"

"किसीके यहाँ जहाँगीर-चन्द्रिका मिलेगी?"

"अकबरके दर्पदमनकारी महाराज वीरसिंहदेवका चित्र तलाश कराइए!"

एक चिट्ठीमें उन्होने द्विवेदीजीको लिखा थाः—"आप तथा रसिकेन्द्रजी परस्पर परामर्श करके मुझे यह लिखियेगा कि बुन्देलखण्डके किन-किन स्थानोंके चित्र संग्रह किये जावें। मैने 'विशाल भारत'से यह तय कर लिया है कि प्रति लेख १० चित्र वह छाप देंगे और अपनी ओरसे ब्लाक बनवा लेंगे! मैं समझता हूँ कि बुन्देलखण्डके इतिहासके छपने और सचित्र छपनेका एक प्रकारसे मैंने पूरा प्रबन्ध कर लिया है। अब रहा लेख प्रस्तुत करने और उसके सम्बन्धमे खोज करनेका काम, वह हम लोगोंके ऊपर निर्भर है। यदि इस समय हम आप सब सपरिश्रम लेखमाला प्रस्तुत करनेमे लग जावेंगे तो अब आप विश्वास कर लीजिए कि जिस कामको कठिन साध्य ही नहीं असम्भव समझते थे, वह सुलभ हो गया। अब चित्रोंवाली कठिनाई न रही। प्रकाशनके लिए भी साधन प्रस्तुत हैं।"

'विशाल भारत' मे मैने वर्माजीके आदेशानुसार बुन्देलखण्डविषयक अनेक चित्र तथा लेख छापे थे। उन्हींकी आज्ञानुसार महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब तथा छत्रसालके रंगीन चित्र 'विशाल भारत'में प्रकाशित हुए थे। कवीन्द्र केशवदासका तिरंगा चित्र भी वे 'विशाल भारत' के लिए तलाश कर रहे थे।

स्वर्गीय वर्माजीके सत्संगका सौभाग्य मुझे केवल दो वर्ष तक प्राप्त हुआ। एक दिन उन्होंने एक क्षीणकाय व्यक्तिको मुझसे मिलाया और कहा, "चौबेजी, मैं तो अब वृद्ध हो गया, हृद्‌रोगसे पीडित रहता हूँ, न जाने कब

चल दूँ, आपको एक साहित्यसेवी सौंपता हूँ, आप इससे काम लीजिए।"

मैंने कहा, "ये कौन हैं? इनका शुभ परिचय?" वर्माजीने कहा, "यह मेरा साहित्यिक उत्तराधिकारी है—वैसे भतीजा है। नाम है ब्रजमोहन।"

स्वर्गीय बन्धुवर ब्रजमोहन वर्माने 'विशाल भारत'के लिए जो महान् कार्य किया और जिस प्रकार वे उसके प्राणस्वरूप बन गये उसकी चर्चा तो फिर कभी की जायगी, इस समय इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि आगे चलकर स्वर्गीय कृष्णबलदेवजी वर्माकी ख्याति जितनी बुन्देलखण्डप्रेमी होनेके कारण होगी उससे अधिक होगी स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्माके पूज्य चाचा होनेके कारण।

यद्यपि स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माजी अपने जनपद बुन्देलखण्डके अनन्य भक्त थे, पर उनमे क्षुद्र प्रान्तीयताका सर्वथा अभाव था और उनकी साहित्यिक रुचि पूर्णतया उदार थी।

जब उनसे 'सुधा'के ओरछा-अङ्कके लिए लेख माँगा गया तो उन्होंने लिखा था :—

"यह जानकर मुझे और भी आनन्द हुआ है कि 'सुधा' ओरछा-अङ्क प्रकाशित करेगी। मै उसमे सहयोग देनेके लिए पूर्णतया प्रस्तुत हूँ। साहित्यके देवस्वरूप श्री केशवदासजी मेरे हृदयाराध्य उपास्यदेव हैं। फिर यह कहाँ सम्भव है कि जहाँ उनका अथवा ओरछा राज्यका गुणगान होनेको हो, वहाँ मैं कुछ भी त्रुटि करूँ? पर कहना इतना ही है कि एक सप्ताहका समय जो लेखके लिए आप मुझे देते है वह बहुत ही अपर्याप्त है। कारण यह है इस समय मै बहुत व्यग्र हूँ, यह सप्ताह क्या दो सप्ताह तक मैं ऐसा फँसा हूँ कि दम मारनेका अवकाश नही, क्योंकि ता० २१ नवम्बरको मै प्रयाग जा रहा हूँ। एकेडेमीकी ओरसे पत्रिका पहली जनवरीको प्रकाशित होनेवाली है। उसके एडिटोरियल बोर्डकी मीटिंग

२३ नवम्बरको है। पत्रिकाके ऐडिटोरियल बोर्डका मैं आनरेरी मेम्बर हूँ। पत्रिकाके लिए एक बहुत विस्तृत लेख भारतवर्षके अन्तिम सम्राट् महाराज समुद्रगुप्तपर लिखा है। समुद्रगुप्तके सम्बन्धमें खोज करने और स्टडी करनेमें मुझे दो मास लग गये। प्रयाग, कौशाम्बी, दिल्ली, एरण, गया आदिके स्तम्भोपरके लेखोंको पढ़ना पडा, कनिंघमकी आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्टकी स्टडीज करनी पडी। गुप्तकालीन मुद्राओ व मूर्तियोको खोजकर उनसे ऐतिहासिक रहस्य उद्घाटन करने पड़े। अब वह लेख पूर्ण करके भेजा है। वीर-विलासकी भूमिका कल तक लिखकर तैयार हो जावेगी। उसे भी प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ। दूसरे २५ दिसम्बरको काशीमें ऑल एशियाटिक एज्यूकेशन कान्फ्रेंस होनेवाली है, उसका भी मैं मेम्बर हूँ, उसके लिए भी लेख प्रस्तुत करना है, जो भारतवर्षकी प्राचीन युनिवर्सिटियों और शिक्षा-पद्धतिपर होगा, साथ ही २६ ता०को काशी नागरी प्रचारिणी सभाके साहित्य-परिषद्‌का अधिवेशन है, जिसके लिए सभापति श्रीयुत राव बहादुर माधवराव किबे है। उस परिषद्‌के बन्धुवर बाबू श्यामसुन्दरदासजी रायसाहबने बुन्देलखण्डके साहित्यपर एक लेख पढनेकी आज्ञा की है, जिसकी मैं स्वीकृति दे चुका हूँ, और जिसे तैयार करनेका आज लग्गा लगाऊँगा। साथ ही पटनेमें ओरियंटिल कान्फ्रेस है उसमें भी जाना पड़ेगा और उसके लिए भी कुछ मसाला इकट्ठा करना होगा। अतः आप बाबू दुलारेलालजीसे यह कहिए कि वे कृपाकर ओरछाङ्कके पन्द्रह-बीस पृष्ठकी जगह मेरे लेखके लिए रिजर्व रक्खें।"

इस पत्रसे स्पष्टतया प्रकट है कि श्रद्धेय वर्माजीकी साहित्यिक रुचिमें सङ्कीर्णता बिल्कुल नही थी। जिस प्रेमके साथ वे कलकत्तेमें होनेवाले अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका मन्त्रित्व कर सकते थे, उसी प्रेमके साथ अपने बुन्देलखण्ड प्रान्तके किसी गॉवकी खाक भी छान सकते

थे। स्वप्रान्त-प्रेम तथा स्वदेश-प्रेम कोई परस्पर विरोधी भावनाएँ नहीं है।

हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि ज्यो-ज्यो हमारी मातृभूमिमे साहित्यिक तथा सास्कृतिक जाग्रति होती जायगी त्यो-त्यो हम स्थानीय केन्द्रोंको अधिकाधिक महत्त्व देते जायँगे। यदि हममेसे प्रत्येक अपने जनपद अथवा मंडलकी साहित्यिक तथा सास्कृतिक प्रगतिके लिए कटिबद्ध हो जाय तो समस्त भारतकी सर्वाङ्गीण उन्नति होनेमे देर न लगे। यद्यपि हमे अपने देशका सम्पूर्ण रूप अपने सामने रखना चाहिए (वहॉपर भी हमे क्षुद्र राष्ट्रियताके खतरेसे अपनेको बचाना होगा) तथापि हमारा कल्याण इसीमे है कि हम अपनी परिमित शक्तियोंका खयाल करके अपेक्षाकृत एक छोटेसे स्थल या जनपदको अपना कार्यक्षेत्र बना ले। कार्यकी सुविधाके लिए क्षेत्रोके विभाजनके मानी 'प्रान्तीयता' हर्गिज नही।

स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माके जीवनमे सबसे अधिक आकर्षक बात यही थी कि बुन्देलखण्डको उन्होंने अपने हृदयमे सर्वोच्च स्थानपर रक्खा था। यद्यपि गार्हस्थिक दुर्घटनाओ, शारीरिक कष्टो और राजनैतिक झंझटोंके कारण वे अपने प्रान्तकी यथोचित सेवा न कर सके तथापि जो कुछ भी उन्होने किया तदर्थ हम सबको उनका कृतज्ञ होना चाहिए। वह समय दूर नही है जब कि बुन्देलखण्ड प्रान्तकी जनता स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माके इस अनन्य प्रेमसे भलीभॉति परिचित हो जायगी और जिस कामको वे अधूरा छोड गये उसे पूर्ण करेगी। उनकी आत्माको सन्तोष तभी होगा जब बुन्देलखण्ड-प्रान्त सास्कृतिक दृष्टिसे अपने प्राचीन गौरवको पुनः प्राप्त कर ले।

नवम्बर १६४०]

पण्डित तोताराम सनाढ्य

१५ जून '९१४

"ये है पं० तोतारामजी सनाढ्य, जो फिजीसे अभी लौटे है।"

भारती-भवन (फिरोजाबाद) के मैनेजर लाला चिरजीलालजीने मुझसे कहा। मैने पडितजीको प्रणाम किया और कहा "आपके व्याख्यान मैने भारतमित्रमें पढे हैं। कुलीप्रथाके विरुद्ध आप खूब बोले।"

तोतारामजीने कहा—"पडित अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयीकी कृपासे वह सब वृत्तान्त छप गया।"

मैंने निवेदन किया—"पंडितजी, अब अपने अनुभवोको पुस्तका-कारमे क्यो नहीं छपा देते ?"

पडितजी—"मैं कोई लेखक थोड़े ही हूँ। हाँ, अपने अनुभव सुना जरूर सकता हूँ। कोई उन्हें लिख सके तो काम बने।"

मै—"इसकी चिन्ता आप न करें। क्लर्कीका काम मेरे जिम्मे रहा।'

इस प्रकार 'फिजी द्वीपमे मेरे २१ वर्ष' नामक पुस्तकका प्रारम्भ हुआ जिसके तीन संस्करण हिन्दीमें छपे, जिसके चार भिन्न-भिन्न गुजराती अनु-वाद प्रकाशित हुए, मराठीमें जिसका तर्जुमा छपा, बॅगलामे दो बार जो अनुवादित हुई और जिसका अँग्रेजी ट्रासलेशन कराके दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ फिजी ले गये। पुस्तकका निन्यानवे फीसदी श्रेय पंडित तोतारामजी सना-ढ्यको ही था। उनका सुनानेका ढङ्ग इतना चित्ताकर्षक था कि उसे ज्यो-का-त्यो लिखना कठिन कार्य था। वैसे उनकी वह गाथा भी इतनी हृदय-वेधक थी कि मैंने रोते-रोते ही उसको लिपिबद्ध किया था। शर्तबन्दीको

गुलामी (Indenture System) के विरुद्ध आन्दोलनमे इस पुस्तकसे काफ़ी सहायता मिली थी।

प० तोतारामजीका जन्म फ़ीरोजाबादके निकट हिरनगौमे सन् १८७६ मे हुआ था। उनके पूज्य पिताजीका स्वर्गवास सन् १८८७ मे हो गया। घरकी हालत इतनी ख़राब हो गई कि उनके बड़े भाई रामलालको कलकत्ते जाकर रैली ब्रदर्सकी आठ रुपये महीनेकी नौकरी करनी पडी। सन् १८६३ मे तोतारामजी घरसे सात आने पैसे लेकर जीविकाके लिए निकल पड़े और अनेक कठिनाइयोंका सामना करते हुए सोलह दिनमें प्रयाग पहुँचे। प्रयागसे ही उनकी राम-कहानीका प्रारम्भ होता है। किस प्रकार वे आर-काटी (कुली रिक्रूटिंग एजेण्ट) द्वारा बहकाकर कलकत्ते भेजे गये और वहाँसे फ़िजी, उसका विवरण पाठक उनकी पुस्तकमे ही पढ सकते है। प्रवासी भारतीयोंके इतिहासमे यह पुस्तक चिरस्मरणीय रहेगी।

पण्डितजीने अपने जीवनके पाँच वर्ष किस प्रकार गुलामीमे काटे, उसकी कथा अत्यन्त रोमाचकारी है। वास्तवमे यह बड़े सौभाग्यकी बात हुई कि वे उन पाँच वर्षोंमे जीवित रहे; जीवित ही नही, जाग्रत् भी रहे— क्योकि गोरे ओवर-सियरोके अत्याचारोसे पीडित होकर अथवा पारस्परिक कलहके कारण कितने ही भारतीय कुली वहाँ आत्मघात कर लेते थे। गुलामीसे मुक्त होनेपर पण्डितजी १६ वर्षतक फ़िजीमे और भी रहे।

फिजी प्रवासी भारतीयोके सार्वजनिक जीवनको संगठित करनेके लिए जितना काम पंडित तोतारामजी सनाढ्यने किया था, उतना उनके पूर्व किसीने भी वहाँ नहीं किया और उनके लौट आनेके बाद भी उनसे बढकर जनसेवाका कार्य शायद ही किसी अन्य फिजी प्रवासी भारतीयसे बन पड़ा हो। भारतवर्षसे हिन्दू धर्मसम्बन्धी ग्रंथ मँगाकर उन्होने घरपर ही उनका अध्ययन किया और अपनी जीविकाके लिए पण्डिताई करने लगे। इस प्रकार उनको जन-संपर्क सुलभ हो गया। रामलीलाका प्रारम्भ वहं

उन्होंने कराया था और महात्मा गाधीजीसे पत्रव्यवहार करके डाक्टर मणिलालजी वैरिस्टरको फिजी बुलानेका श्रेय भी पण्डितजीको ही था। भारतके पत्रोंको भी वे समय-समय पर वहाँके समाचार भेजते रहते थे। शर्तबन्दी गुलामीके खिलाफ उन्हीने २३ सितम्बर सन् १९१२ को राजर्षि गोखलेको बॉकीपुर काग्रेसके अवसर पर तार दिया था। पडितजी उदार विचारोंके थे और मुसलमानों तथा ईसाइयोंसे भी उनका व्यवहार प्रेमपूर्ण था। 'फिजी आफ टुडे'के लेखक रैवरेंड बर्टन साहबने उन्हें अपनी पुस्तक मे, 'एक सुशिक्षित ब्राह्मण, साफ दिमागवाला और शातिपूर्वक शास्त्रार्थ करनेवाला' लिखा था। फ़िजीके आदिवासियोंकी भाषाका आपने कई वर्ष तक अध्ययन किया था। और इस प्रकार आप फिजियन जनताके विश्वासपात्र बन गये थे। उन लोगोंको आप प्रह्लाद, ध्रुव, तुलसीदास और कबीरदास आदिकी कथाएँ सुनाया करते थे। प्रवासी भारतीयोंमे जो कुछ भारतीय संस्कृति विद्यमान है, उसका श्रेय महात्मा गाँधी, दीन बन्धु ऐण्ड्रूज, भाई परमानन्द, स्वामी भवानीदयाल, अमीचन्द्र विद्यालंकार, श्री गोपेन्द्रनारायण तथा दस पन्द्रह अन्य प्रचारकोको है, जो समय-समयपर वहाँ जाते रहे हैं। प० तोतारामजीकी गणना भी इन्हीं लोगोंके साथ होनी चाहिए।

आज फिजी प्रवासी भारतीय भले ही पं० तोतारामजीको भूल गये हों, पर इसमे सन्देह नहीं कि उस द्वीपसमूहमे भारतीयता, हिन्दीप्रेम तथा देशभक्तिकी भावनाको जाग्रत् रखनेके लिए प० तोतारामजीने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह फिजीके इतिहासमे स्वर्णाक्षरोंमे लिखा जाना चाहिए। उनकी तीस वर्षकी सेवाके उपलक्ष्यमे इतना तो होना चाहिए कि उनके नामपर कोई पुस्तकालय फ़िजीकी राजधानी सूवामे स्थापित हो। शर्तबन्दी गुलामीके विरुद्ध जो भारतव्यापी आन्दोलन उन्होंने किया, उसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे।

पडितजीने एक सरयूपारीण ब्राह्मणकी सुपुत्री गंगादेवीसे अपना विवाह किया और पडितजीके साथ वे फ़िजीसे यहाँ लौटकर आई थीं। गगा बहन भी पंडितजीकी तरह ही सुसस्कृत और परोपकार भावनासे पूर्ण थीं। जब गगा बहनकी मृत्युका समाचार ६-५-३२ को महात्माजीको यरवदा जेलमे मिला तो उन्होंने आश्रमवासियोंको तार दिया था !

"गंगा बहनकी मृत्युका समाचार जानकर हम सबको दुख हुआ। मुझे खुशी है कि उन्होंने अमर श्रद्धाके साथ जीना और मरना जाना। तोतारामजी आनन्दमे है, इसमें आश्चर्य नहीं। पंडित तोतारामजी जो कुछ सेवा कर सके, उसका बहुत कुछ श्रेय उनकी सतीसाध्वी पत्नीको मिलना चाहिए।"

३ मई सन् १९१४ को पडितजी फिजीसे लौटकर कलकत्ते पहुँचे और १५ जून १९१४ को फीरोजाबादके भारतीभवनमें उनके दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। प्रवासी भारतीयोंकी जो अत्यल्प सेवा मुझसे २०-२२ वर्षमे बन पड़ी, उसका मुख्य श्रेय पंडित तोतारामजी सनाढ्य और तत्पश्चात् दीनबन्धु ऐण्ड्रूज और महात्मा गाधीजीको है। प्रारम्भिक प्रेरणा मुझे पडितजीसे ही मिली और सन् १९१४ से लेकर १९२५ तक हम लोगोंने मिलकर ही काम किया था। पडित तोतारामजीने अपनी कठिन कमाईके सैकडों ही रुपये कुली-प्रथाके विरुद्ध आन्दोलनमें व्यय किये थे।

मद्रास कांग्रेसमें आप फिजी-प्रवासी भारतीयोंके प्रतिनिधि होकर सम्मिलित हुए थे। और वहाँ आध घण्टे तक आपने हिन्दीमें कुली-प्रथाके विरुद्ध भाषण दिया था। हरिद्वारके कुम्भपर अपने खर्चसे बारह दिन तक आपने कुलीप्रथाके विरुद्ध खूब प्रचार किया था और पचास सहस्र विज्ञापन आरकाटियोंके विरुद्ध बँटवाये थे।

सन् १९२१ में जब महात्माजीने प्रवासी भारतीयोका काम करनेके लिए इन पंक्तियोंके लेखकको बुलाया था, तो उस समय पंडित तोताराम-

जीको भी सहायतार्थ बुलवा लिया गया था और इस प्रकार हम दोनोंने चार वर्ष तक प्रवासी विभागका कार्य वहाँ किया था। मुझे तो सन् १९२५ मे वहाँसे चला आना पडा, पर पंडितजीका शेष जीवन वहीं व्यतीत हुआ।

खेतीके कार्यमें पडितजीको बडी रुचि थी। बल्कि वे उसके विशेषज्ञ ही थे। महात्माजीने खेतीके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण पत्र २६-४-३३ को पंडित तोतारामजीको लिखा था, उसे यहाँ उद्धृत करनेका मोह हम संवरण नही कर सकते। बापूने लिखा था:—

"भाई तोतारामजी,

तुम्हारा विवरण अच्छा लगा। महादेवका भजन भेजा वह भी अच्छा। और दोनोका मेल भी मुझे बहुत प्रिय लगा। हमारा प्रत्येक कार्य प्रभुका भजन ही होना चाहिए।

विवरण दुबारा पढ़ लूँगा। मेरी आकाक्षा तो यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें जो हमारे लिए पर्याप्त हो। यदि गोमाताके लिए भी घास आदि पैदा करें और आश्रमके लिए अनाज, तो खेतीके पूर्ण आदर्शको हम पहुँचे। इसमे थोडा ज्यादा खर्च भी हुआ तो भी मै उसको सफल समझूँगा। लेकिन मै जानता हूँ कि यह सब मूर्खका बकवाद है। खेतीका काम सबसे कम किया और बाते सबसे मैने इस बारेमे ज्यादा की है। क्या करूँ? खेती उन्हीं चीजोमे से है जो करनेका ख़याल मुझको आधी आयु बीतने पर आया।

२६-४-३३ बापू"

पंडित तोतारामजीने यद्यपि किसी विद्यालयमें शिक्षा नहीं पाई थी, अनुभव तथा स्वाध्यायसे उन्होंने अपने मस्तिष्कको खूब विकसित कर लिया था। जो कुछ वे लिखते थे, हृदयके अन्तरतमसे लिखते थे, इसलिए उनके लेखोंमें जान रहती थी। उनके एक पत्रके विषयमे, जो उन्होंने महात्माजीको यरवदा जेलमे भेजा था, श्रीयुत महादेव भाईने लिखा था—

"कल आश्रमकी डाक आई। सदासे ज्यादा थी। तीन बहुत लम्बे पत्र थे। उनमे तोतारामजीका पत्र अमूल्य था। यह कहना मुश्किल है कि रामचरित पढ़कर मन ज्यादा पवित्र हो सकता है या इस पत्रको पढ कर। उसमे उन्होंने अपनी पत्नीका संक्षिप्त वर्णन हृदयंगम भाषामें लिखा था।" इत्यादि।

मेरी प्रार्थनापर पण्डितजीने एक दूसरी पुस्तक भी लिखी थी, जिसका नाम था 'फिजीमे मैंने क्या देखा'? दुर्भाग्यवश वह पुस्तक अप्रकाशित ही पडी है। फ़िजी-प्रवासी भारतीयोंका सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास जाननेके लिए उक्त पुस्तकसे बढिया दूसरा ग्रन्थ लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि उक्त पुस्तकमे पण्डितजीने अपनी अनुभूतियोंका वर्णन बडी जानदार भाषामें किया है।

पण्डित तोतारामजीके व्यक्तित्वके विषयमे हम अपनी ओरसे कुछ न लिखकर महात्मा गाधीजीके लेखको ही उद्धृत किये देते है। यह लेख महात्माजीने अपने स्वर्गवाससे १८ दिन पूर्व 'हरिजन' के लिए लिखा था।

"वयोवृद्ध तोतारामजी किसीकी सेवा लिये बग़ैर गये। वे साबरमती आश्रमके भूषण थे। वे विद्वान् नहीं थे, मगर ज्ञानी थे। भजनोंके भण्डार होते हुए भी वे गायनाचार्य न थे। वे अपने एकतारेसे और भजनोंसे आश्रमके लोगोंको मुग्ध कर देते थे। जैसे वे थे, वैसी ही उनकी पत्नी थीं। वह तो तोतारामजीसे पहले ही चली गईं।

तोतारामजीको धरती प्यारी थी। खेती उनका प्राण थी। आश्रममें बरसों पहले वे आये और उसे कभी नहीं छोडा। छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष उनकी रहनुमाईके भूखे रहते और उनके पाससे अचूक आश्वासन पाते।

वे पक्के हिन्दू थे, मगर उनके मनमें हिन्दू-मुसलमान और दूसरे सब धर्म बराबर थे। उनमें छुआछूतकी गन्ध न थी। किसी किस्मका व्यसन न था।

राजनीतिमें उन्होंने भाग नहीं लिया था, फिर भी उनका देशप्रेम इतना उज्ज्वल था कि वह किसीके भी मुकाबले खडा रह सकता था। त्याग उनमें स्वाभाविक था। उसे वे सुशोभित करते थे।

ये सज्जन फ़िजी-द्वीपमें गिरमिटिये मजदूरकी तरह गये थे और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज उन्हें ढूँढ लाये थे। उन्हें आश्रममें लानेका यश श्री बनारसीदास चतुर्वेदीको है। उनकी अन्तिम घड़ी तक उनकी जो कुछ सेवा हो सकती थी, वह भाई गुलाम रसूल कुरेशीकी पत्नी और इमाम साहबकी लड़की अमीना बहनने की थी।

'परोपकाराय सतां विभूतयः'—सज्जन पुरुष परोपकारके लिए ही जीते है, यह उक्ति तोतारामजीके बारेमें अक्षर-अक्षर सच थी।

नई दिल्ली १२-१-४८ मोहनदास करमचन्द गांधी"

पंडित तोतारामजी पृथ्वी-पुत्र थे। जो कुछ उनमें था, सहज था, स्वाभाविक था। एक अशिक्षित ग्रामीण बालक कठिनतम परिस्थितियोंमें अपनी परिश्रमशीलता तथा ईमानदारी और परोपकारवृत्तिसे अपने जीवनका निर्माण किस प्रकार कर सकता है, पण्डित तोतारामजीका चरित्र इसका एक अच्छा उदाहरण है।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी

'स्वामी भवानीदयालजी का स्वर्गवास हो गया !' यह दुःखद समाचार 'हिन्दुस्तान'मे पढकर सहसा चौंतीस वर्ष पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो गईं। उन दिनों मैं इन्दौरके राजकुमार-कालेजमे अध्यापक था और स्वामीजी, जो उस समय भवानीदयालजी ही थे, वहाँ सरस्वती-सदनके संचालक भाई द्वारिकाप्रसादजी 'सेवक'के अतिथि होकर पधारे थे। चूँकि प्रवासी भारतीयोंकी सेवाका कार्य मै १९१४ में ही प्रारम्भ कर चुका था, इसलिए भवानीदयालजीकी मुझपर विशेष कृपा थी। पिछले चौंतीस वर्षोंमे बीसियो बार स्वामीजीसे मिलन हुआ, सैकडों ही बार विचार परिवर्त्तन हुआ और पत्र-व्यवहार तो अन्तिम दिनों तक निरन्तर जारी रहा।

यद्यपि स्वामीजी कोई असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् नही थे और न वे कोई स्वतन्त्र विचारक ही थे—उन्हें ऊँचे दर्जेके ग्रन्थकार कहना भी अत्युक्ति होगी—तथापि कार्यकर्ता और प्रचारककी दृष्टिसे उनकी गणना प्रथम कोटिमें ही की जायगी। स्वामीजी अत्यन्त परिश्रमी व्यक्ति थे, बेहद लगनके आदमी थे और अपने-आपको खपा देना उनके स्वभावका एक अग ही बन गया था—बल्कि मै तो यहाँ तक कहूँगा कि उनका यह गुण उस सीमा तक पहुँच गया था, जहाँ वह एक दुर्गुण ही माना जाना चाहिए। उदाहरण लीजिए। उपनिवेशोंसे लौटे हुए प्रवासी भाइयोंकी दशाकी रिपोर्ट अंगरेजीमे तैयार करनी थी। स्वामीजीने अपना संग्रहीत मसाला मुझे सौप दिया। मैने महीने-भरमे रिपोर्ट तैयार कर दी।[1] यह तो कोई

---

१. हम लोगोंकी उस रिपोर्टका काफ़ी प्रभाव पडा था। महात्माजी तथा 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' इत्यादि पत्रोंने उसकी निष्पक्षता तथा संयत

मुश्किल काम नही था, पर उस रिपोर्टको छपानेके लिए पन्द्रह सौ रुपयेकी जरूरत थी। स्वामीजीने कलकत्तेमे घूमना शुरू किया और उसके लिए चन्दा कर ही लिया। उसकी छपाई कलकत्तेके प्रवासी प्रेसमें कराई गई। स्वामीजी बराबर लगे रहे। जब पुस्तक छपकर आई, तब हजार-बारह सौ प्रतियोको जगह-जगह भेजनेका काम शुरू हुआ। पते वगैरह सब स्वामीजीने ही लिखे, टिकट चिपकाये और विधिवत् प्रत्येक कापी पोस्ट भी की। जिस दिन वे इस कार्यको समाप्त करके अपने ग्रामको रेलसे रवाना हुए, उस दिन वे इतने थके हुए थे और उनका शरीर इतना निर्जीव हो चुका था कि ६ घण्टे तक अपने ग्रामके स्टेशनपर बेहोश पड़े रहे।

जब-जब वे 'विशाल भारत' आफिसमे आते, मेरा उनका एक पेटेण्ट मज़ाक रहता था। मै उनसे कहता—"स्वामीजी! आप पुनर्जन्ममे क्यो नही विश्वास रखते? कुछ काम अगले जन्मके लिए भी छोड़िये। सभी कामोंको इसी जन्ममे क्यो समाप्त कर देना चाहते हैं?

आज करै सो कालि करि, कालि करै सो परसो,
ऐसी जल्दी कहा परी है, परी भई हैं बरसों!"

इसपर स्वामीजी खूब हँसते और कहते—'पुनर्जन्मकी यह फिलासफी तुम्हें ही मुबारक हो! हमें तो काम करते-करते मरना है। आजका काम कलपर टालना तो अधर्म है। ये ऊटपटाँग कहावतें तुमने कहाँसे इकट्ठी कर लीं?' मै उनसे यही कहता—"यह शुद्ध वैदिक धर्म है कि खूब आनन्दके साथ मन आवे तब काम किया जाय, और जब मन न हो, तब काम बिलकुल बन्द रखा जाय। वेदकी यह व्याख्या आप क्या किसी

भाषाकी प्रशंसा की थी और सम्पूर्ण भारतीय पत्रोने उसका स्वागत किया था। स्वामीजीने इन सम्मतियोंको संग्रह करके उन्हें भी पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया! वह भी तीन सौ पृष्ठोंकी एक पोथी बन गई!

चतुर्वेदीसे अधिक योग्यतापूर्वक कर सकते हैं ?" स्वामीजी इसपर खिल-खिलाकर हँस पड़ते।

कर्मठ कार्यकर्त्ता और सेवक

स्वामीजीके जीवनका एक दर्शन था। अपने ध्येयकी पूर्तिके लिए सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा, छात्र-अध्यापक, स्त्री-पुरुष—जिस किसीसे जो-कुछ भी सहायता मिल सके, ली जाय और सर्वथा निःस्वार्थ भावसे उसका उपयोग किया जाय, ऐसा वे मानते थे। स्वामीजी जानते थे कि हम सभी त्रुटिपूर्ण हैं और आखिर अधूरे ही आदमियोकी मददसे हमे अपना काम आगे बढ़ाना है। स्वामीजीके लोक-संग्रहके पीछे यही भावना थी। वे निरन्तर अपने पूरक व्यक्तियोंकी तलाशमे रहते थे और अपनी भलमन-साहत, विनम्रता तथा लगनके कारण उन्हें ऐसे व्यक्ति मिल भी जाते थे। 'विशाल भारतके' सहकारी-सम्पादक स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्माको उन्होने अपना इतना प्रेमी बना लिया था और प्रवासी भारतीयोका इतना समर्थक कि वर्माजी पंगु होनेके बावजूद दक्षिण-अफ्रीका-यात्राके लिए तैयार हो गये थे ! और भी कई युवकोंको उन्होंने इस कार्यके लिए प्रेरित किया था। भाई राजबहादुर सिंह, श्री प्रेमनारामण अग्रवाल, श्री कन्हैयालाल इत्यादिसे उन्होंने खूब काम लिया था।

इसके सिवा प्रवासी भारतीयोका काम भी किसी पार्टी-विशेषका नहीं था और भारतके सभी दलों तथा श्रेणियोंकी उनके साथ सहानुभूति थी। स्वामीजी जानते थे 'एकहि साधै सब सधै', इसलिए अपने जीवनके मुख्य लक्ष्य प्रवासी भारतीयोंकी सेवाको उन्होंने कभी नहीं छोड़ा।

पर स्वामीजीका जीवन एकागी नहीं था। आर्यसमाज, हिन्दी-प्रचार, प्रवासी भाइयोंकी सेवा और साहित्य-रचना—इन चारों क्षेत्रोमें

स्वामीजीने बड़ी सफलतापूर्वक काम किया। आर्यसमाजी होनेपर भी वे कठमुल्लापनसे कोसो दूर थे। साम्प्रदायिकतासे उन्हे घोर घृणा थी। सभी जातियोंमें उनके मित्र थे। सभीसे उनका भाईचारा था। एक मुस्लिम कार्यकर्त्ताका जीवन-चरित उन्होने प्रकाशित कराया था और राजा महाराजसिंहजीसे, जो एक प्रतिष्ठित ईसाई-वंशके है, उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज उनकी गणना अपने प्रेमी मित्रोंमे करते थे और अनेक सनातनधर्मावलम्बी भी उनको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। वस्तुतः स्वामीजी मनुष्य थे और दीन-हीन भारतीय समाजके सेवक।

स्वामीजीका सबसे आकर्षक गुण उनका भोलापन था। एक बार मजाकमें मैने 'विशाल भारत' मे उन्हें 'कालोनियल सन्यासी' लिख दिया। स्वामीजी उस समय 'विशाल भारत' आफ़िसमे ही बैठे थे। जब वे जाने लगे, तो मैने उनसे कह दिया कि ये शब्द उनके विषयमे जा रहे है। उस समय तो सुनकर वे चुप रह गये, पर आफिससे मीलभर जानेके बाद फिर लौट आये और बोले—'अरे भाई! वे शब्द आप निकाल दीजिए। उसमेसे तो बहुत ख़राब ध्वनि निकलती है।' मैंने बहुत समझाया कि यह तो एक निर्दोष मजाक है, पर स्वामीजीका तर्क था—'प्रवासी भारतीय आपके इस मजाकको अन्यथा समझेंगे और इसका कुछ-का-कुछ अर्थ निकालेंगे। इसलिए इस दुविधाजनक हास्यकी चोटसे आप मुझे बचाइये।' स्वामीजीके इस आग्रहको हमें मानना पड़ा।

एक बार भवानीदयालजीने अपनी पुस्तकमे महात्माजीकी कठोर आलोचना कर दी थी। मैने इसके लिए उनकी भरपूर निन्दा की और महात्माजी तक इस मामलेको पहुँचाया। महात्माजीने इतना ही कहा—'भवानीदयाल ग़लती तो कर सकता है, पर वह ईमानदार है। उसके पितासे भी मेरा सम्बन्ध था। वे तो एक अच्छे साधन-सम्पन्न गृहस्थ थे।' यद्यपि महात्माजीके प्रति स्वामीजीकी अनन्य श्रद्धा थी, पर वे उनके

अन्धभक्त नहीं थे। पूज्य बापूजीकी आलोचना करनेकी हिम्मत वे रखते थे।

एक बार जब स्वामीजीके मनमे यह इच्छा हुई कि प्रवासी भारतीयोंका कार्य छोडकर भारतीय राजनीति-क्षेत्रमे प्रवेश किया जाय, तो महात्माजीने यह भूल करनेसे उन्हें उबारा था। बापूने उन्हें यही आदेश दिया था कि 'भारतीय राजनीतिक क्षेत्रमे तो सैकडो कार्यकर्त्ता है, तुम उनमे एककी वृद्धि करोगे। पर दीनबन्धुकी मृत्युके बाद प्रवासी भारतीयोका तो कोई सेवक रहा ही नहीं। तुम भी उन्हे छोडना चाहते हो क्या?' स्वामीजी निरुत्तर हो गये और बापूकी आज्ञा उन्होंने अपने सिरपर रखकर मान्य की। जीवनके अन्तिम क्षण तक वे प्रवासी भारतीयोकी सेवामें लगे रहे।

स्वामीजीके लिखे हुए कई ग्रन्थ है। उनके प्रारम्भिक ग्रन्थोंमे 'सत्याग्रह-संग्रामका इतिहास' महत्त्वपूर्ण है। वह एक सजीव और सचित्र पुस्तक थी, और चूँकि स्वामीजीने स्वय सपत्नीक उक्त सग्राममे भाग लिया था, इसलिए वह पुस्तक काफी प्रभावोत्पादक भी बन पडी थी। उनकी 'प्रवासीकी आत्मकथा' भी अपने विषयकी अच्छी पुस्तक है। स्वामीजी किसीके साथ रियायत करनेवाले जीव नहीं थे। उनके पिताजी किस प्रकार उनके लिए विमाता ले आये थे, उसका ब्यौरा उन्होंने बड़े कठोर शब्दोंमे दिया है।

व्यवस्था स्वामीजीके जीवनका एक अग थी। चीजोंको यथास्थान रखना, पत्रोंकी फाइल बनाना, अलमारीमे ग्रन्थोंको सजाना, पत्र-व्यवहारको नियमित रखना और जो भी काम हाथमे लिया जाय, उसे ठीक तौरपर निभाना, ये सब बाते उनके स्वभावमें ही प्रविष्ट हो गई थी। स्वामीजी एक प्रतिष्ठित पत्रकार थे। उन्होंने बिहारके कई पत्रोंका सम्पादन किया था और अफ्रिकासे भी कई पत्र निकाले थे। उनके द्वारा सम्पादित

'हिन्दी'के कई विशेषाक तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे । अपनी मृत्युके समय भी वे 'प्रवासी' का सम्पादन कर रहे थे । प्रवासी भारतीयोमे यह दुर्गुण है कि वे अन्य अनावश्यक कार्योमे चाहे लाखो रुपये व्यय कर दे, पर अपने पत्रोके ग्राहक वे नहीं बनते ! 'प्रवासी'के लिए स्वामीजीको पचास-पचास, सौ-सौ रुपये भीख माँगने पडते थे और पत्रके प्रत्येक अंकमे ऐसे दानियोंका विस्तृत परिचय भी देना पड़ता था ! फिर भी पत्रका खर्च वे नहीं निकाल पाते थे । अपनी मृत्युके पहले तो उन्हें पत्रोंमे कई लेख लिखने पड़े और दुर्भाग्यवश एक सम्पादक महोदयसे उन्हें उन लेखोंका पारिश्रमिक भी नही मिला ! यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वामीजी कलकत्तेके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अवसरपर हिन्दी-पत्रकार-सघके सभापति भी हुए थे ।

स्वामीजीका जीवन-क्रम और रहन-सहन पाश्चात्य ढङ्गका था । वे उपनिवेशमें पैदा हुए थे और भोजनालय, शौचालय इत्यादिकी सफ़ाईकी ओर उनका विशेष ध्यान रहता था । अपने प्रवासी-भवनमें उन्होने सफाई की सर्वोत्तम व्यवस्था रखी थी । हजारीबाग-जेलमे एक बार उन्हें 'ए' के बजाय 'बी' क्लास दे दिया गया और इस परिवर्त्तनसे उन्हें पर्याप्त शारीरिक कष्ट हुआ । उस समय गवर्नरसे पत्र-व्यवहार करके उनका क्लास-परिवर्त्तन कराया गया था । अधिकाश प्रवासी भारतीय यूरोपियन ढंगपर रहनेके अभ्यस्त हो गये हैं और उनसे यह आशा करना कि वे लौटकर भारतीय ढगपर रह सकेंगे, सर्वथा अनुचित होगा । बिहारके गवर्नर साहबको पत्र लिखते हुए हमने इसी बातपर जोर दिया था कि दक्षिण-अफ्रीका तथा भारत-सरकारके समझौतेके अनुसार वहाँके प्रवासी भारतीयोंसे यही आशा की गई थी कि वे यूरोपियन जीवन-क्रमको अपनावे, इसलिए स्वामी भवानीदयालजीको 'ए' क्लास मिलना ही चाहिए । पीछे हमें पता लगा कि स्वामीजीके कुछ साथियोंको उनका यह क्लास-परिवर्त्तन अनुचित जॅचा ।

यह उन लोगोकी असहिष्णुता थी। किसीसे भी तामसिक तपस्याकी आशा क्यो की जाय ?

स्वामीजी चायके बड़े शौकीन थे और 'विशाल भारत' आफ़िसमे जब कभी पण्डित पद्मसिंहजी शर्मा तथा स्वामीजीका आगमन होता था, तो हमारे सहकारी श्री ब्रजमोहन वर्मा 'एकटो घोर चा' तैयार कराते और टोस्ट तो उसके साथ होता ही। स्वामीजीका धूम्रपान भी साथ-साथ चलता ही था। स्वामीजी नीरस व्यक्ति नहीं थे। खूब मजाक करते थे। दूसरोंके प्रति वे सहिष्णु थे और कोरमकोर धर्माडम्बरवालोंसे उनकी कभी न पटती थी। एक बार स्वामीजी किसी आर्य-समाज-मन्दिरमें ठहरे हुए थे कि रातको साढे तीन बजे उठकर एक उपदेशक महोदयने जोर-जोरसे वैदिक मन्त्र पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। स्वामीजीकी नींद खुल गई और उन्होंने तुरन्त ही उपदेशक महानुभावसे कहा—'देखिए महाशयजी, मैंने भी वैदिक धर्मका कुछ अध्ययन किया है। उसमे यह कही भी नहीं लिखा कि इस प्रकार निर्दयतापूर्वक पडोसियोंकी नींद हराम की जाय। यदि आपकी धर्म-अभिलाषा विशेष बलवती तथा जाग्रत है, तो कृपया कही एकान्तमे जाकर शान्तिपूर्वक मन्त्रपाठ कीजिये। हम लोगोंपर तो रहम कीजिये।' उपदेशक महोदय स्वामीजीकी पोजीशनसे वाकिफ थे। भीगी बिल्लीकी तरह शान्त हो गये।

आफ़िसर-क्लासके साथ व्यवहार करते समय स्वामीजीका भिन्न ही रूप रहता था। उस समय उनके नेतृत्वके गुण प्रकट हो जाते थे, और वे यह हर्गिज सहन नहीं कर सकते थे कि उच्च-से-उच्च अधिकारी उनके साथ कोई बेअदबीकी बात करे। एक बार 'सतलज' जहाजके एक अधिकारीने उस समय उनकी कुछ उपेक्षा की थी, जब वे लौटे हुए प्रवासी भारतीयोंकी जॉच करनेके लिए उस जहाजपर गये थे। बस, स्वामीजीने भारत-सरकारको तुरन्त ही तार दिया और सर हबीबुल्लाको, जो उनसे

व्यक्तिगत तौरपर परिचित थे, बीच-बिचाव करना पडा ! डेपूटेशनोमे उन्हें कई बार वाइसराय इत्यादिसे मिलना पडता था । उस समय स्वामीजी अपने पद-गौरवके अनुरूप ही व्यवहार करते थे । हमारी शिथिलताओंपर स्वामीजी अक्सर व्यग किया करते थे । उनका कहना था—'चौबेजी, इन उच्च पदाधिकारियोसे व्यवहार करनेकी भी एक कला है । ये विनम्रताको कमजोरी समझते है और झटसे दबोच देते है । इनके सामने तो कठोर बनना ही पडता है । ऊपरी शिष्टाचारकी बातोंके सिवा मै इनपर हमेशा रोब ही जमाये रहता हूँ ।'

मै उनसे कहता—'स्वामीजी, यह नेतागीरी तो हमसे नहीं हो सकती ।'

स्वामीजी कहते—'इसमे नेतृत्वका सवाल नही है, यह तो व्यवहार-कौशल है ।'

और स्वामीजी निस्सन्देह व्यवहार-कुशल थे । महिलाओंपर भी उनका जादू चल जाता था । उनसे भी वे समाज-सेवाके कार्य ले लेते थे । उनका सन्यासी-वेश उस वक्त उनकी बहुत सहायता करता था ।

विशाल भारतके निर्माता

महात्मा गान्धी, कवीन्द्र रवीन्द्र और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज इस त्रिमूर्त्तिको हम विशाल भारत (Greater India) के निर्माता कह सकते है । वैसे राजर्षि गोखले, माननीय श्रीनिवास शास्त्री तथा महामना मालवीयजीने भी प्रवासी भारतीयोंके लिए खूब काम किया था; पर विशाल भारतके निर्माताओमे उनकी गणना नहीं हो सकती । हॉ, स्वामी भवानीदयालजी-का नाम इन निर्माताओंकी द्वितीय श्रेणीमे अवश्य गिना जायगा और उसका एक कारण है । स्वामीजीका कार्य मुख्यतया हिन्दी-भाषा द्वारा ही हुआ था, जो केवल भारतकी ही नहीं, विशाल भारतकी भी सामान्य भाषा

है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा प्रवासी भारतीय होगा, जिसके पास स्वामीजीके ग्रन्थ, रिपोर्ट, लेख या उनके सम्पादित पत्रोंके अङ्क न हों। स्वामीजी अव्वल दर्जेके प्रोपैगेण्डिस्ट थे और अपनी चीजोंको यथास्थान पहुँचानेमे तो वे मिशनरियोको भी मात करते थे। हिन्दी-प्रेम, भारत-भक्ति और पारस्परिक सद्भावनाके सहस्रों बीज स्वामीजीने भिन्न-भिन्न औपनिवेशिक क्षेत्रोंमे बो दिये थे और कभी वे आगे चलकर वृक्षोंका रूप धारण कर लेगे। ज्यो-ज्यों हिन्दीका सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रोंमे बढेगा त्यों-त्यो स्वामी भवानीदयालजीके कार्यकी महिमामे भी वृद्धि होगी। विशाल भारतके इतिहासमें स्वामीजीका नाम अमर रहेगा।

स्वामीजीका जीवन-वृत्त बिल्कुल अधूरा ही रहेगा, यदि उनकी धर्मपत्नी जगरानीदेवीका जिक्र न किया जाय। जब तक वे जीवित रहीं, अपने पतिके प्रत्येक यज्ञमे वे सम्मिलित होती रहीं। दक्षिण-अफ्रीकाके सत्याग्रह-संग्राममें अपने छोटे-से बालकके साथ उन्होने जेल-यात्रा भी की थी। भवानीदयालजीको प्रेरित करके उन्हे काममें जुटानेवाली भी वे ही थीं, और उनके आकस्मिक स्वर्गवाससे भवानीदयालजीका जीवन बिल्कुल अधूरा ही हो गया। वह उनके जीवनकी सबसे भयंकर दुर्घटना थी, पर वे उसे धैर्यपूर्वक सह गये। यद्यपि कई जगहसे प्रस्ताव आये, पर स्वामीजीने दूसरा विवाह नही किया। एक बार प्राइवेट तौरपर हमने स्वामीजीसे पूछा, तो उन्होंने हमें बातलाया कि कितने ही व्यक्तियोने विवाहके लिए उनसे आग्रह किया था। एक महानुभावने तो यहाँ तक धृष्टता की थी कि रातके दस बजे अपनी लडकी स्वामीजीके कमरेमें इसलिए भेज दी कि वह स्वयं स्वामीजीको विवाहके लिए प्रेरित करे! जब स्वामीजीको इस षड्यन्त्रका पता चला, तो उन्होंने बडी दृढता, पर विनम्रतापूर्वक इतना ही कहा—'देखो बहन, मेरा शेष जीवन तो अब प्रवासी भाइयोंकी सेवाके लिए अर्पित हो चुका है। जगरानीदेवीकी स्मृतिमे मुझे अपनी शक्तिका कण-कण उसी

कार्यमे लगाना है। अब मै गृहजीवनमे पुनः प्रवेश नहीं करनेका।'
स्वामीजीने अपने इस वचनका अक्षरशः पालन किया।

स्वामीजीके जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग हम उनकी बीमारीके अन्तिम बारह महीनोंको मानते है। स्वामीजी जानते थे कि उनकी महायात्रा निकट है, पर वे मृत्युसे लड़े और खूब लड़े और जो भी क्षण इस प्रकार वे निकाल सके, उन्हें प्रवासी भारतीयोंकी सेवामे लगाया।

यद्यपि पिछले बारह वर्षोंमें स्वामीजीसे मेरा पत्र-व्यवहार कुछ कम हो गया था, क्योंकि विपरीत परिस्थितियोके कारण मैं प्रवासी भारतीयोंके सेवा-कार्यको छोड बैठा था, तथापि स्वामीजीने मुझे कभी नहीं बिसारा। न जाने कितनी बार उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि मै प्रवासी भारतीयोंके कामको पुनः अपने हाथमे ले लूॅ। चार-पॉच महीने पहले जब मैने स्वामीजीको लिखा कि अब मैं कभी-कभी अपने पुराने विषयपर लिखा करूॅगा, तो उससे उन्हें कुछ सन्तोष अवश्य हुआ था।

स्वामीजीने अपने अन्तिम पत्रमें, जो उन्होंने मृत्युके २०-२५ दिन पूर्व मुझे भिजवाया था, मुझसे यह आग्रह किया था कि मैं 'प्रवासी'के सम्पादनका भार अपने ऊपर ले लूॅ, ताकि वे निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक परलोक यात्रा कर सके! इस पत्रने मुझे बड़े धर्म-संकटमे डाल दिया। मै न तो नकारात्मक उत्तर दे सकता था, न स्वीकारात्मक। मैने उस समय उनको सेवामें बस इतना ही निवेदन किया—" 'प्रवासी'की ओरसे आप निश्चिन्त रहिए। जिस भावनासे आपने उसे निकाला है, वह तो अमर है ही। 'प्रवासी'की देखभाल करनेवाला कोई-न-कोई निकल ही आवेगा।"

अपने क्षुद्र जीवनमें हमने पचासो कार्यकर्ता देखे हैं, पर ध्येयके लिए सम्पूर्णतया समर्पित स्वामीजी-जैसे व्यक्ति बहुत ही कम दीख पड़े हैं और जीवन-रसकी प्रत्येक बूॅदका इस प्रकार सदुपयोग करनेवाले तो और भी

दुर्लभ है। स्वामीजी कुल जमा ५८ वर्षके थे। अपने चालीस-वर्षीय सार्वजनिक जीवनमें उन्होंने जितना काम कर दिखाया, उतना उससे ड्योढी और दूनी उम्रमें भी कर लेना मुश्किल ही होता। वे परलोक चले गये, पर उनकी कीर्ति चिरस्थायी रहेगी और उनके प्रेमी तथा मित्र जीवनपर्यन्त उनकी याद करते रहेंगे।

मई १९५०]

स्वर्गीय पीर मुहम्मद मूनिस

अभी उस दिन आगरेके दैनिक 'सैनिक'को उठाया ही था कि उसमें एक स्थानपर पढा—"बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके १४वें अधिवेशनके अध्यक्ष पीर मुहम्मद मूनिसका देहान्त, अकस्मात् हृदयकी गति रुक जानेसे २४ सितम्बरकी रातमें हो गया।"

पढते ही कलेजा धकूसे हो गया ! मै मूनिसजीकी आत्मकथाके कुछ अध्यायोकी प्रतीक्षा कर रहा था। मैने उनसे कई बार प्रार्थना की थी कि वे आत्मचरित लिख दे। पहले तो वे संकोचवश राजी नही हुए, पर अपनी मृत्युके एक महीनेपर पूर्व उन्होने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी और अपने २१-८-४६ के पत्रमे लिखा था—

पूज्य भाई !

सादर प्रणाम। अभी ५ बजा है। आपका कृपा-पत्र मिला। रविवार है। इसलिए डाक-पीउन ६ बजेके बजाय ५ बजे आया। मै एक व्यक्तिसे बातें कर रहा था। चम्पारनके वे एक खास भाई है। उनके भाई १६०४-८ में जेल गये थे। उनके भाईका जीवन-सम्बन्धी नोट ले रहा था—उसी समय आपका पत्र मिला। आपके पत्रने मुझमे सचमुच बिजली पैदा कर दी और एक प्रकारका सच्चा साहस और प्रोत्साहन दिलाया। मैं अन्धकारमे था—रोशनी मिल गई। मैं शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि कलसे एक घंटा (आत्मचरितके लिए) अपना समय अवश्य निकालकर लिखनेका काम करूँगा। आजतक किसीने मुझे ऐसा प्रोत्साहन नही दिलाया था। मेरी आत्मकथाके साथ भाई सुन्दरलाल, राधामोहन गोकुलजी, स्वामी सत्यदेव, सत्यनारायण 'कविरत्न', गणेश-

शकर विद्यार्थी, शिवनारायण मिश्र, माधव शुक्ल, बालकृष्ण भट्ट, बालकृष्ण शर्मा, आर्य्यमुनि, महात्मा मुंशीराम आदिका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रहेगा, ऐसा मैं समझता हूँ। आपसे प्रार्थना है कि मेरी खबर हमेशा लेते रहनेकी कृपा कीजियेगा। आपके पत्रने मुझ अकर्मण्यको कर्मकी ओर अग्रसर किया। शेष कुशल है।

—पीर मुहम्मद मूनिस

मैं इस बातसे अत्यन्त प्रसन्न था कि आखिर बन्धुवर मूनिसजीने मेरा अनुरोध स्वीकार कर लिया। मेरा-उनका पत्र-व्यवहार सन् १९१५ या १९१६ से हो रहा था। उन्होंने मेरी प्रार्थनापर स्व० पंडित तोतारामजी सनाढ्यकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फ़िजी द्वीपमें मेरे २१ वर्ष' का उर्दू रूपान्तर कर दिया था। इसके सिवाय सन् १९१७ मे अष्टम हिन्दी साहित्य-सम्मेलनकी लेखमालाके लिए "क्या उर्दू हिन्दीसे भिन्न कोई भाषा है?" इस विषयपर एक महत्त्वपूर्ण लेख मुझे भेजा था। 'विशाल भारत'के लिए भी उन्होंने कई लेख लिखे थे। वैसे उनका साक्षात् परिचय तो कलकत्तेमे सन् १९२९ के आसपास हुआ था, पर उनके शुभ नामसे मै बहुत पहलेसे परिचित था। बन्धुवर श्री द्वारिकाप्रसादजी 'सेवक' जिन दिनों इन्दौरसे 'नवजीवन' निकालते थे, उन्हीं दिनों मूनिसजीके कई लेख उक्त पत्रमे छपनेके लिए आये थे, जिनकी शैली बडी प्रभावशाली थी। भगवान् श्रीकृष्णपर लिखे गये उनके एक लेखकी तो बडी धूम मच गई थी। किसी मुसलमानके लिए उन दिनों श्रीकृष्ण भगवान्‌के विषयमे इतने श्रद्धापूर्ण उद्‌गार प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं था। एक पत्रमे मूनिसजीने मुझे लिखा था—

"कन्हैया कहाँ हो?" इस शीर्षकसे एक लेख लिखा था, जो शायद गोरखपुरके 'स्वदेश' मे छपा था। इस लेखने मुसलिम संसारके कठमुल्लों में बेतरह बेचैनी पैदा कर दी। समालोचनाएँ हुईं। अन्तमें कुफ्रका बदनुमा

धब्बा मेरे सुफ़ेद दामनपर लगाया गया। उस समयसे कुछ चुप्पी साध ली और यही आशा बँधी—पर बोलियो तूही बसन्त लगे जब।"

राष्ट्रवादी मुसलमानोकी दोनों ओरसे आफ़त रही है। अपने मुसलिम सम्प्रदायमें वे काफ़िर समझे जाते थे और हिन्दू समाज उन्हें अविश्वासकी दृष्टिसे देखता था! अपने ३–५–३७ के पत्रमें उन्होने लिखा था—

"मै एक प्रकारसे उदासीन होकर बैठ गया हूँ। कुछ लिखना-पढ़ना नहीं—पर गोशानसीको भी अख्तियार नहीं किया। साहित्यिक क्षेत्रमे साम्प्रदायिकताका बढता हुआ भाव देखकर स्वर्गीय कविके सुर-मे-सुर मिलाते हुए—

सुन मीत कहा बहिरे जन की या निवास थलीन पै जाइबे में।
अरु कोकिल! बारहिबार तुम्हें मधुरै निज बैन सुनाइबे में।
जिनको विधि बाम दिये ही नहीं युग कानिकी आयु बनाइबे में।
नहिं चूकेंहिंगे मतिहीन कछू, हठि आँगुर तोहि दिखाइबे में।

के अनुसार चुपचाप बैठा हुआ दूसरी ओर अपनी शक्ति लगाये हुए था। पर अब समय बदल रहा है—'तू भी फलक बदल, कि जमाना बदल गया।' इस आश्वासनके अनुसार अब चुपचाप बैठना भी अच्छा नहीं है। साम्प्रदायिकताका जमाना बड़े वेगसे गुजर रहा है। रग-ढंग अच्छे नज़र आ रहे हैं। अब आप लोगोंका काम है, समाजके ख़यालात के अनुकूल साहित्यकी रचना करें।..."

जब सन् १९४४ में मैने उनसे आग्रह किया कि आप अपनी अनुभूतियाँ लिख दे, वे घोर आर्थिक संकटमेंसे गुज़र रहे थे और हतोत्साह थे। उन्होंने मुझे लिखा था—

"मै अपनी अनुभूतियाँ क्या लिखूँ, समझमें नहीं आता, क्षमा करें। यदि अधिक तंग करेंगे तो फिर विचार करूँगा। दुनियाके उपहास और

समालोचनाओंसे बहुत डरता हूँ। स्वर्गीय हाशमी साहब वाला नोट 'विशाल भारत'मे पढा था। जबसे आप 'विशाल भारत'से हटे, उस समयसे वह मेरे पास नही आता। आर्थिक दुर्दशाके कारण उसे मॅगा नही सकता।

इस जमानेमे कौन व्यक्ति साम्प्रदायिक है और कौन नही, समझना मुश्किल है। मेरी तो यही धारणा है कि

रास्ती मूजिबे रज़ाये ख़ोदास्त
कस न दीदमके गुमशुद अज रहे रास्त।

अर्थात् सत्यता परमात्माकी रजामन्दीका कारण है। मैंने किसीको नही देखा कि सीधी राहसे गुम हुआ।"

स्वर्गीय मूनिसजीने चालीस वर्षसे अधिक हिन्दी साहित्यकी सेवा की। उनका प्रथम लेख 'नील-विभ्राट' सन् १९०७ या १९०८ मे 'हिन्दी केसरी' मे प्रकाशित हुआ था और अपने अन्तिम दिनोंमे वे 'चम्पारनका इतिहास' लिख रहे थे। १९४०-४१ मे मोतिहारी जेलमे उन्होने उसका ढॉचा तैयार कर लिया था। अपनी ४१-४२ वर्षकी साहित्य-सेवा और देश-सेवाके दिनोंमें उन्हें जो कष्ट उठाने पड़े उनका ब्यौरा भी उन्हीके साथ चला गया!

जब मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे स्व० गणेशजीके संस्मरण मेरे लिए लिख दे तो उन्होने अपने एक पत्रमे लिखा था—

"आपका पहला पत्र ता० ६ को और दूसरा १३ को मिला। दोनों पत्रोंका उत्तर एक साथ इसलिए देना पड रहा है कि मै मानसिक और पारिवारिक कष्टोसे इस समय बेतरह परेशान हूँ। मेरा पौत्र मुहम्मद कासिम (जिसकी अवस्था केवल चार वर्षकी है) १६-१७ रोजसे ज्वरग्रस्त है। नित्य डाक्टरोंके दरे-दौलतपर दस्तक और हाजिरी बजा लाना मेरा प्रधान कर्त्तव्य हो गया है। मुहम्मद कासिमका ज्वर नित्य उतरता है और

चढता है। रोज-रोज डाक्टरोकी फीस और दवा-दारूमे प्रायः ४-५ रुपये सर्फ करने पडते है। मेरा लडका मुहम्मद सुलेमान भी बेकार है और मेरा तो पूछना ही क्या ? मुँहका आहार (धान) बेच-बेचकर किसी प्रकार काम चलाता हूँ। इस गिरानीके जमानेमे धान बेचकर आइन्दाके लिए अपने सिरपर मुसीबत उठाने की कोशिश कर रहा हूँ। लाचारी और मजबूरी जो न करा डाले वह थोडा, ये तो पारिवारिक मजबूरियाँ हैं। और अपने विषयमे पहले ही निवेदन कर चुका हूँ। जेलमें मधुमेह शुरू हुआ। पेटकी खराबीके कारण कुछ दाँत तुडवाने पड़े। आँखे कमजोर हो गई। ५४-५५ वर्षकी अवस्था और आर्थिक तथा मानसिक कष्ट। यही सब मजबूरियाँ हैं जो चित्तको उद्विग्न किये रहती है। आर्थिक दशा शोचनीय होनेके कारण मित्रोंके पत्रोंका उत्तर ठीक समयपर देना मेरे लिए प्रायः मुश्किल हो जाया करता है।"

२० अप्रैल सन् १९४५ को लिखा हुआ उनका पत्र पढ़ लीजिये—

गंज, बेतिया, २०-४-४५
जिला चम्पारन

आदरणीय पण्डितजी,

सप्रेम वन्दे।

आपको यह सुनकर आन्तरिक दुःख होगा कि मेरे एकमात्र पुत्र मुहम्मद सुलेमानने, जिसकी अवस्था अभी २६ वर्षकी थी—विगत ता० ८-४ रविवारकी रात्रिमे इहलीला समाप्त की। मुहम्मद सुलेमान ८-९ महीनेसे बीमार था। टी. बी. हो गया था। मेरा एकमात्र वही सहारा था। घरका सारा काम-काज वही देखता था। हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी तीनों भाषाओंका ज्ञाता था।

४ वर्षका एक पुत्र और २ वर्षकी एक कन्या छोडकर चल बसा। उसकी माता और उसकी विधवा स्त्रीका करुण-क्रन्दन हृदयको विकंपित

कर रहा है। मै अधीर और व्याकुल हो गया हूँ। ज्ञान और विवेक—सबने साथ छोड दिया। किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहा हूँ। ससार मेरी आँखोके सामने सूना नजर आ रहा है। घरमें जो कुछ था बेचकर उसकी बीमारीमें ख़र्च कर डाला। डाक्टर, हकीम और वैद्य सबकी दवा की, पर कालबलीसे कोई न बचा सका। परमात्माकी इच्छा बलवान् है!

आपका

—पीर मुहम्मद मूनिस

भाई मूनिसजीके इस पत्रकी नकल कराके मैने कई मित्रोको इस आशासे भेजी थी कि शायद वे इस वज्रघातके समयमे उस जराजीर्ण साहित्यिक बन्धुकी कुछ सहायता कर सकेंगे, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, मेरी वह प्रार्थना निरर्थक गई!

और मूनिसजी कोरमकोर साहित्यिक ही नहीं थे। उन्होने राजनैतिक क्षेत्रमें भी अत्यन्त सराहनीय काम किया था। चम्पारनके निलहे गोरोंके अत्याचारोसे पीडित १९ लाख किसानोंकी दुःखगाथा सुनानेके लिए वे सन् १९१० मे इलाहाबाद गये थे और कर्मवीर पडित सुन्दरलालजीके मकानपर ठहरे थे और वहींपर उनका परिचय स्व० गणेशशङ्करजी विद्यार्थीसे हुआ था। पंडितजीने तथा विद्यार्थीजीने उनसे यही कहा कि इस वक्त काग्रेस द्वारा इस बारेमे कुछ भी होनेकी उम्मीद नहीं दीखती, बेहतर यही होगा कि पहले समाचार-पत्रों द्वारा जनताके कानों तक चम्पारनके किसानों-की आर्त्त कथा पहुँचाई जाय। गणेशजीने कहा—"मै आपकी पूरी-पूरी मदद करूँगा। कुछ दिन और ठहर जाइये।" 'अभ्युदय'में गणेशजीको काम मिलनेवाला था और उसके मिलनेपर उन्होंने अपने वचनका पालन भी किया। चम्पारनके लिए मूनिसजीने और गणेशजीने कितना परिश्रम किया उसकी सम्पूर्ण कथा सुनानेवाला अब कौन है? यह बात ध्यान देने योग्य है कि चम्पारनकी दुखगाथा सुनानेके लिए जितना कार्य मूनिसजीने

किया उतना शायद ही किसी दूसरे लेखकने किया होगा। इसके लिए उन्हे अपनी नौकरीसे भी हाथ धोना पड़ा था।

मूनिसजीका एक लेख 'राष्ट्रभाषा हिन्दी हो' १६०६ के 'कर्मयोगी'मे प्रकाशित हुआ था। उसे पढकर स्व० बालकृष्णजी भट्टने उनसे कहा था—"तुम लिखा करो और हमेशा लिखो। कुछ दिनोंमे तुम्हारी भाषा और शैलीकी कद्र होगी।"

स्व० राधामोहन गोकुलजीने मूनिसजीकी लेखशैलीपर मुग्ध होकर कहा था—"आप कलकत्ते चलें तो आपकी शिक्षा-दीक्षाका सम्पूर्ण भार वहन करनेकी जिम्मेवारी मेरे एक मित्र ले सकते है।" पर मूनिसजी कलकत्ते नही जा सके।

श्रीयुत हरिहरप्रसादजीने २६ दिसम्बर सन् १६३७के 'प्रताप'मे लिखा था—

"श्रीयुत मूनिसजीकी दयनीय दशा देखकर किसकी आँखोमे पानी नही उतर आयेगा?"

अपने एक पत्रमे मूनिसजीने स्वयं लिखा था—"यदि मेरा आर्थिक कष्ट कुछ कम हो जाय तो मै फिर साहित्यिक क्षेत्रमे कमर कसकर तैयार हो जाऊँ और साहित्य-सेवा ही अपना अन्तिम ध्येय तसव्वर करलूँ, भोजन और वस्त्र तो किसी प्रकार मिल जाता है, पाकेट खर्चका अभाव कठिनतामे डाल देता है। इसलिए पत्र लिखनेमे हमेशा दिक्कतोंका सामना करना पडता है।"

जब मैने उनसे आत्मचरित लिखनेका आग्रह फिर किया तो उन्होने लिखा—"मै चार महीनेसे सख्त बीमार हूँ। मधुमेह तो सता ही रहा था, फ़र्वरीसे काला आजार, तेहाल, वर्मेजिगर आदि कई बीमारियोंने मुझे अपना शिकार बना लिया है। एकमात्र खेती ही हम लोगोंकी जीविका है। जनवरीमे १५-२० रोज खेत ही पर रहना पड़ा। उसी स्थानपर

मलेरिया ज्वर शुरू हुआ जो आजतक भोग रहा हूँ.. आत्मचरित लिखकर क्या करूँगा ? कई पुस्तकें पडी हुई है, जो अर्थाभावसे प्रकाशित नही हुई।"

यह परिस्थिति थी एक देशभक्त हिन्दी-लेखककी, जो बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका संस्थापक था, जो आगे चलकर उसका अध्यक्ष भी निर्वाचित हुआ और जिसने ४० वर्षसे अधिक मातृभाषाकी सेवा की।

जिस प्रकार मूनिसजीका गार्हस्थिक जीवन कष्टपूर्ण रहा, उसी प्रकार उनका साहित्यिक जीवन भी अनेक दुर्घटनाओंसे परिपूर्ण रहा। मूनिसजीने समाचार-पत्रो तथा मासिक-पत्रोंमे जो सैकडों लेख लिखे थे उनमेसे चुने हुए ४५ लेखोका सग्रह उन्होंने भाई द्वारिकाप्रसादजी सेवकको भेज दिया था, पर सेवकजी अपनी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण उन्हे छपा नही सके और उन्होंने मूनिसजीको उक्त संग्रह वापस भेज दिया। तत्पश्चात् वह श्री आनन्दबिहारीजी, लहेरियासराय, दरभंगाके पास पहुँचा और उनके कथनानुसार वह भूकम्पके समय नष्ट हो गया। बेचारे मूनिसजीके पास दूसरे कटिग थे ही नही।

मूनिसजीने 'हिन्दुस्तान सल्तनत मोगलिया' का अनुवाद किया था, वह कागजकी गिरानी और आर्थिक कष्टके कारण न छप सका। 'फिजी द्वीपमे २१ वर्ष'का उर्दू रूपान्तर लखनऊके जिन सज्जनको भिजवाया गया था उनका घर ही गोमतीकी बाढ़में बह गया और उसके साथ मूनिसजी द्वारा अनुवादित पुस्तक भी डूब गई। 'चम्पारनका इतिहास' अधूरा ही रह गया और आत्मचरित तो वे शायद प्रारम्भ ही नहीं कर सके।

अपने अन्तिम पत्रमें, जो उन्होंने २६-८-४६को मुझे भेजा था, उन्होने लिखा था—

"मैं अभी तक आपकी आज्ञाका पालन न कर सका। २१ तारीखसे ही हृदयकी धडकन शुरू हो गई थी। निश्चिन्त होकर कोई काम नही कर

सकता और न एक स्थानपर कुछ देर बैठ सकता हूँ। दवा हो रही है। पहलेसे अब अच्छा हूँ। शेष कुशल है।"

मुझे आशा थी कि मूनिसजी शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे और अपने अधूरे ग्रन्थोंको पूरा कर देंगे। पर ऐसा न हुआ! जिस साहित्यिक बन्धुने इस युगमे रहीम और रसखानकी परम्पराको कायम रखनेके लिए इतनी साधना की—और कितनी कठोर परिस्थितियोंमे?—और जो अपने सम्प्रदायकी घृणा और हम लोगोकी उपेक्षाके बावजूद हिन्दी माताकी सेवामे ४० वर्ष लगा रहा, राजनैतिक क्षेत्रमे भी जिसकी सेवाएँ उल्लेखनीय थीं, उस तपस्वीकी स्मृति-रक्षाके लिए क्या हम लोग कुछ न कर सकेंगे?

स्वर्गीय वर्माजी

"ये है 'विशाल भारत' कुटुम्बकी बहू और मै सास हूँ" ..माननीय श्रीनिवास शास्त्रीको जब मैने वर्माजीका परिचय दिया तो वे मुसकराकर कह उठे—

"अब आपको एक भी शब्द अधिक कहनेकी जरूरत नहीं। मै सम्पूर्ण स्थिति समझ गया। बहूको ही सबसे अधिक परिश्रम करना पडता है। सबसे पहले उठना पडता है और सबसे पीछे सोना। और उसीपर कुटुम्ब-का सारा बोझ पडता है!"

शास्त्रीजी बहुत देर तक हँसते रहे, और हमने भी उनका साथ दिया। वे समझ गये कि वर्माजी ही 'विशाल भारत'की आत्मा और प्राण हैं और इसकी सफलताका पचहत्तर प्रतिशत श्रेय उन्हींको है।

सवेरे-शाम, सोते-जागते वर्माजीको 'विशाल भारत'की ही चिन्ता रहती थी। कभी कहते..."आज रातको दो बजे मुझे ख्याल आया कि जिस चित्रकी हम लोग तलाशमे है, वह 'माडर्नरिव्यू'के अमुक अकमे निकल चुका है। हम लोगोंको ब्लाक नहीं बनवाना पड़ेगा।" और मै झट मजाकमे उनसे कहता..."वर्माजी आप भी अजीब आदमी है। रातको दो बजे क्या फालतू चीजे सोचा करते है! पॉच-सात रुपयेमे हम लोग नया ब्लाक तैयार करा लेते। आप अपनी नींद क्यों हराम करते है? इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपको तो तुरन्त शादी कर लेनी चाहिए, जिससे आप सुख-की नींद तो सो सकें।"

वर्माजीका विवाह 'विशाल भारत' कार्यालयका एक पेटेण्ट मज़ाक था और हम सब उसके लिए नवीन-नवीन अवसर तलाश किया करते

थे। एक बार लाल बाजार कलकत्तेके एक पुलिस आफिसरने अच्छा मौका दे दिया। वर्माजीने हाल ही में लाला हरदयालजीके एक महत्त्वपूर्ण लेख 'कार्लमार्क्स'का हिन्दी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया था और उसीके बारेमे पूछताँछ करनेके लिए पुलिसका वह अधिकारी 'विशाल भारत' आफ़िसमें आया था।

अन्य अनेक प्रश्न करनेके बाद पुलिसके उस अधिकारीने वर्माजीसे पूछा, "आपकी शादी हुई है ?"

तुरन्त ही मैंने उत्तर दिया, "अरे साहब ! इसीका तो झगडा है। इनकी शादीका न होना ही सारी खुराफातोंकी जड़ है। रात-रात भर जगकर ये षड्यन्त्र किया करते हैं। आप कुछ प्रबन्ध कर सकें तो बहुत अच्छी बात है। इनके क्रान्तिकारी दिमागकी उपज इसी तरह रुक सकती है।"

इसपर वर्माजी तो सिर्फ़ मुसकराये, पर हम लोग खिलखिलाकर हँस पडे। तबसे वर्माजीके विवाहमे एक नवीन अध्याय जुड गया—लाल बाजारमे सगाई !

× × ×

वस्तुतः वर्माजीकी स्मरण-शक्तिको देखकर आश्चर्य होता था। एक बार उन्होंने मुझे यह बतला दिया था कि तीन वर्ष पहले मैंने किसी पत्रमें अमुक सज्जनको यह वाक्य लिखा था।

यह स्मरणशक्ति उन्हें अपने पूज्य चाचा श्रीकृष्णबलदेवजी वर्मासे विरासतमें मिली थी। फिर हड्डीके क्षयकी बीमारीमे उन्हें बिना हिले-डुले खाटपर नौ महीने पड़े रहना पड़ा था और उन दिनों उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' की पुरानी फाइलोंका विधिवत् अध्ययन कर लिया, जो आगे चलकर 'विशाल भारत'के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

कलकत्ते पहुँचनेपर श्री कृष्णबलदेवजी वर्मासे भेट न हुई होती तो शायद मुझे ब्रजमोहन वर्माका परिचय भी प्राप्त न होता।

एक दिन वे (कृष्णबलदेवजी) अपने भतीजे ब्रजमोहनको लेकर 'विशाल भारत' कार्यालयमें पधारे और आते ही कहा, "लीजिए, मै अपने साहित्यिक उत्तराधिकारीको आपके सुपुर्द किये देता हूँ,वह कुछ-कुछ उर्दू जांनता है और अँग्रेजी भी।"

सकोचवश मैं कुछ न कह सका। पर मनमे यह विचार अवश्य आया कि कृष्णबलदेवजीने यह अच्छा भार मेरे सिरपर ला डाला!

उस समय तक मैंने ब्रजमोहन वर्माका कोई लेख नही पढा था। अब पता चला कि वे चतुष्पादके नामसे लिखते रहे है। इस उपनामसे मै परिचित तो था ही, पर बैसाखीके सहारे चलनेवाला यह युवक ही डाक्टर चतुष्पाद है, इसका मुझे बिलकुल पता न था।

न जाने क्या सोचकर मैने चकबस्तकी 'सुबहे वतन' इस विचित्र प्राणीके हाथमे देते हुए यह सुझाव रखा कि वह इस काव्य-ग्रन्थका साहित्यिक मूल्याकन प्रस्तुत कर दे। 'सुबहे वतन' पर वर्माजीने ऐसी फड़कती हुई आलोचना लिखी कि उसे पढकर तबीयत खुश हो गई।

× × ×

वर्माजी बडी जोरदार भाषा लिखते थे। उनका शब्द-भंडार विस्तृत था। इसका एक कारण यह भी था कि वे उर्दूकी गतिविधिसे खूब परिचित थे। एक बार मैने कहीं लिखा था......'वृक्षकी पत्तियोंके ऊपरका हिस्सा,' वर्माजीने उसे काटकर 'फुनगी' लिख दिया।

एक दिन मुझे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीका पत्र मिला:—

"उस दिन चैत्रकी 'माधुरी' की कापी मिली। लेख-सूची पढी। उसमें एक लेख मिला. .'उर्दू कवितामे इसलाह'। उसे पढवाकर सुना। बडी खुशी हुई। लेख बहुत पसन्द आया। लेखक काव्यमर्मज्ञ और बडे ही

सरसहृदय है। उन्होंने अपने एक मिसरेमें खुदाके साथ रियायत की है उनका कहना है......

"अगर सौ बार सर मारे तो मुश्किलसे खुदा समझे,"

मुझे यह अन्याय खला है। मेरी रायमे तो

'अगर सौ साल सर मारे तो शायद ही खुदा समझे,...'

यदि वह लाइन इस तरह कही जाती तो असलियतके ज्यादा करीब पहुँच जाती। लेखकका नाम ब्रजमोहन वर्मा है। आपके सहकारी सम्पादक-का भी यही नाम है। क्या यह लेख उन्हीका है ? यदि हाँ, तो आप बड़े खुशकिस्मत है, जिन्हें इतना सहृदय और काव्यतत्त्वज्ञ सहायक मिला।"

वर्माजीने इस महत्त्वपूर्ण पत्रको सार्टीफिकेटके तौरपर रख छोड़ा था और निस्सन्देह उससे वर्माजीको बहुत प्रोत्साहन मिला।

नई बाते जाननेकी इच्छा ब्रजमोहन वर्माको बराबर रहती थी। एक बार उनका एक विस्तृत लेख छपा, जिसमे गर्भवती स्त्रियोंके भोजन इत्यादिके बारेमें बडी खोजपूर्ण बाते लिखी गई थी। वह लेख उन्होंने हम लोगोंको बिना दिखलाये ही एक मासिक पत्रमे भेज दिया था! जब वह छपकर आया तो हम लोग चकित रह गये। न जाने कितना समय उन्होंने उस लेखपर लगाया था। वैद्यों और डाक्टरोंसे पूछताँछ की थी और तत्सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन भी। वह लेख भी मज़ाकका एक साधन बन गया। हम सब यही कहते .."देखिए वर्माजी, इस प्रकारकी अनधि-कार चेष्टा आप हर्गिज न किया कीजिए। यह मदाखलत बेजा है। जिस कूचे में आपको कभी पैर नहीं रखना उसके बारेमें इतनी छान-बीन क्यों ?"

अनेक अछूते विषयोंपर उनकी लेखनी बराबर चला करती। आज वे भूचालपर लिख रहे है, तो कल यूरोपमें युद्ध-सामग्रीपर। हम सदैव

यही कहते—"फिर वही अनधिकार चेष्टा ? उस लेखवाले मामलेमें हमने मुआफ़ कर दिया था, अब आपकी हिम्मत बढती जाती है !"

हास्यप्रवृत्ति वर्माजीके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी विशेषता थी। प्रायः वे स्वय भी बडा गहरा मजाक करते थे। उस समय वे अपनी हँसी उडानेसे भी सकोच नहीं करते थे। मित्रोकी गोष्ठीमे ही नहीं, मित्रोको लिखे गये पत्रोमे भी अपने ऊपर बड़ीसे बडी फब्ती कसनेसे वे नही चूकते थे। उन्होने १७ अक्टूबर १६३५ के एक पत्रमे मेरे अनुज स्वर्गीय रामनारायणको लिखा था—

"आपको शायद मालूम ही होगा कि मै ११ अगस्तसे १८ सितम्बर तक छुट्टीपर था। इस बीचमे बर्माकी सैर कर डाली। रंगून, पेगू, माडले, मेम्यो, पगान आदि जगहें देख डालीं। डेक यात्राका वृत्तान्त आपको अक्टूबरके 'विशाल भारत'मे 'खुदाईका मास्टरपीस' लेखमे मिल जायगा।

बर्मा जाते वक्त चतुर्वेदीजी तथा अन्य मित्र सब मेरी यात्राके उद्देश्यपर शंका करते थे। सब कहते थे कि अकेले जा रहे हो, दुकेले होकर लौटोगे! संक्षेप मे—

"सबके मन सन्देहका बहता यही प्रवाह।
वर्माजी बरमा चले, वरमालाकी चाह॥"

लेकिन मै अकेला ही गया था और अकेला ही लौट आया। अब यार लोग बर्मा निवासियोंकी मूर्खतापर कहते है—

वर्माजी बरमा तक भटके, पर न मिली वरमाला।"
बर्मी सब बुद्धू ही निकले बना न कोई साला।"

वर्माजी चाहते थे कि एक बार दक्षिण अफ्रीका भी हो आये। डेढ़ पसलीके उस पिंजरमे कितना उत्साह भरा था!

वर्माजी कार्यालयमे नियमानुसार साढ़े दस बजे पहुँच जाते थे और साढ़े पाँच बजे तक बराबर काम किया करते थे। और मेरा समय था,

ग्यारह बजेसे साढे बारह तकका यानी जब तक डाक आ जाये। उस डेढ घंटेमें हम सबका मुख्य काम यही था कि वर्माजीसे मजाक किया जाय। पाडेजी प्रूफ देखना बन्द कर देते। वर्माजी चिन्तित हो जाते कि कम्पोज़ीटर अभी आता होगा। झट प्रूफ उठाकर खुद ही देखने लगते। पाडेजी कहते, "आप घबराते क्यों है, वर्माजी? अभी आपको फर्स्ट क्लास जर्देके साथ पान खिलाता हूँ। इसपर सारा कमरा कहकहोसे गूँज उठता"।

'विशाल भारत'मे प्रकाशित होनेवाले 'चाय चक्रम'मे वर्माजीने पाडेजीका नाम 'नटखट पाडे' रख दिया था। एक दिन कहीसे विबाहका निमन्त्रण-पत्र आया। उसके आधे हिस्सेको काटकर हमने वर्माजीके विवाहका निमन्त्रण बना दिया और नीचे सबके हस्ताक्षर करा दिये। उसमे वधूके स्थानपर बिल्लीका चित्र बना दिया गया था। ज्यो ही वह पत्र वर्माजीको दिया गया कि उन्होंने तुरन्त ही उसपर लिख दिया—

"मंजूर है मुझको वही आज्ञा जो कुछ हो आपकी।
शर्त लेकिन है यही बिल्ली न हो पंजाबकी॥"

इसपर खूब मज़ा रहा। हिन्दीके एक विवाहेच्छुक सम्पादक महोदय-को वर्माजीने पजाबकी ही एक कल्पित कन्याके साथ विवाह करा देनेके चक्करमे बुरी तरह फॉस दिया था।

हॅसने-हॅसानेके दृष्टिकोणके पीछे वर्माजीके जीवनकी फिलासफी थी। एक पत्रमे उन्होंने श्री उपेन्द्रनाथ अश्कको लिखा था—

"आपका यह कहना ठीक है कि हम लोग जो हॅसते है, वह अपने दुख को दबानेके लिए। लेकिन मै समझता हूॅ, यह मार्ग ठीक ही है।

ऐ शमा तेरी उम्र तवई है एक दिन।
हँसकर गुज़ार दे, चाहे रोकर गुज़ार दे॥

'हँसकर गुजारना' 'रोकर गुजारना'से बेहतर है। चारो ओर दुःख ही दुःख है, अतः हमे इस बुरे सौदेमें भरसक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। मेरा तो यही मकूला है. मेरा जीवन स्वय एक काफी बडा दुःखान्त है। जिस समय मै अपने दुःखान्तके अन्धकारमे डूब रहा था, उस समय इत्तफाकसे मैने प्रसिद्ध अमेरिकन कवियित्री ईला विलकाक्सकी एक कविता पढ़ी। उस कविताने मुझे सबसे बडी सान्त्वना दी। संसारके दुःखोंको झेलनेके लिए उसकी वह कविता खासी फिला-सफी है। हँसो और सारा संसार तुम्हारे साथ हँस देगा, रोओ और तुम्हें अकेले ही रोना पड़ेगा। इसलिए इस पुरानी धरतीको खुशियाँ ही उधार लेनी होती है, दुःख तो इसके पास अपना ही यथेष्ट है।"

पर वर्माजीके हास्यमय जीवनके पीछे महान् गम्भीरता और अदम्य परिश्रमशीलता भी थी। उन्हें बराबर यह चिन्ता रहती थी कि 'विशाल भारत'के लेखकोकी कीर्तिका विस्तार कैसे हो। उन्हे वे निरन्तर परामर्श दिया करते थे। बीसियो लेखको तथा कवियोंसे उनका भाईचारा हो गया था। 'विशाल भारत' कार्यालयमे जो कोई पहुँचता उसका आतिथ्य करना उन्हीका काम था।

कार्यालयका चपरासी रामधन तो उनका विशेष कृपा-पात्र था। वर्माजीके सर्वोत्तम संस्मरण भाई रामधन ही के लिए लिखे हुए हैं।

अपने नौ-दस वर्षके साहित्यिक जीवनमे ब्रजमोहन वर्माने जितनी ठोस पाठ्य सामग्री उपस्थित की, उतनी दूसरे लेखकके लिए इससे दूने वक्तमें भी मुश्किल ही होती। और यह तब, जब कि 'विशाल भारत' जैसी संस्थाका तीन-चौथाई बोझ उनपर था।

सन् १९३७ मे जब मैं 'विशाल भारत' कार्यालयसे लम्बी छुट्टी ले चुका था, ब्रजमोहन वर्मा बीमार पड गये और मुझे उन्हें उसी अवस्थामे छोड़कर टीकमगढ़ आना पड़ा। जब मै उनसे विदा लेने गया तो मैने

देखा कि वे 'विशाल भारत'के लिए अत्यन्त चिन्तित है। मैने उनसे कहा .... "वर्माजी आप पहले स्वस्थ हो जाये, फिर 'विशाल भारत'की फ़िक्र कर लेना"। पर वर्माजी भला क्यों माननेवाले थे ? उनका तो यह हाल था कि जब 'विशाल भारत' कार्यालयका चपरासी रामधन उनके पास जाता तो सबसे पहले वे यही पूछते, "'विशाल भारत' कितना कम्पोज हुआ, उसके कितने फर्मे छपे ?" यद्यपि लम्बी बीमारीके कारण वे अत्यन्त निर्बल हो चुके थे और बोलनेमे भी बहुत श्रम पडता था।

२५ अक्टूबर १९३७ को उन्हें पथ्य मिला और २७ अक्टूबरको उन्होने मुझे एक पत्रमे लिखा...

"६५ दिन बाद मेरा बुख़ार उतरा, लेकिन पेटकी शिकायतें अभी तक बनी हैं। उन्हें दूर होनेमे अभी टाइम लगेगा। परसों पथ्य मिला है। कमजोरी इतनी है कि शायद १० नवम्बर तक मैं कुछ चलने-फिरने काबिल होऊँ। यदि १० नवम्बर तक इस क़ाबिल हो गया कि सीढ़ियाँ उतर सकूँ तो किसीको साथ लेकर एक महीनेके लिए स्वास्थ्यके लिए कहीं बाहर जाऊँगा। सभी मेरे लिए वायु-परिवर्तन बहुत जरूरी बता रहे है। ऐसी हालतमे मैं १० दिसम्बरसे पहले कार्यालयमें कार्य आरम्भ नहीं कर सकता।

आपको दिसम्बरमें शान्ति-निकेतन जाना ही है। कृपा करके आप १५ नवम्बर तक यहाँ आ जाये और १५ दिन यहाँ रहकर दिसम्बरके अङ्कका ठीक-ठाक कर दे। जनवरीका मैं ठीक कर लूँगा। आपके आये बिना ठीक न होगा। कृपा करके 'विशाल भारत' पर इतनी कृपा जरूर करे। जनवरीका नम्बर वी० पी०से जायगा, इसलिए यह ज़रूरी है कि दिसम्बरका अङ्क अच्छा निकले। कमजोरीकी वजहसे अधिक लिख नही सकता।

आपका

ब्रजमोहन वर्मा"

यह पत्र उन्होने बहुत धीरे-धीरे बडे परिश्रमके साथ लिखा था और अन्तिम पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते उनका हाथ कँप गया था ! पत्रमे 'लिख नही सकता', और 'आपका ब्रजमोहन वर्मा' बिल्कुल कँपकपाता हुआ लिखा गया है।

खेद है कि कई आवश्यक कार्योंके कारण मै कलकत्ते न पहुँच सका। ७ दिसम्बर, १९३७ को बन्धुवर श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'ने एक पत्र वर्माजीकी बीमारीके विषयमे कानपुरसे लिखा कि वर्माजी बहुत बीमार है, उनसे मिल लो।

इस पत्रमे नवीनजीने लिखा था. ."जब भी मै ब्रजमोहनको देखता हूँ मेरा हृदय उनके लिए उछल पडता है। वे एक शिष्ट सज्जन है, इतने वीर कि उन्होंने कभी हार नहीं मानी, यद्यपि उनके शरीरका एक-एक तार झंझोडा जा चुका है और जीवनभरकी लम्बी बीमारियॉ उसे तोडती-मरोडती रही है। ऐसे लोग जो वस्तुतः इतने सज्जन, सत्य-प्रिय और निर्भय होते हैं बहुत-ही कम मिलते है।"

मै उस समय टीकमगढसे भी चालीस-पचास मीलकी दूरीपर था। जल्दीसे लौटकर मै टीकमगढ आया और कानपुरके लिए चल पडा। पर कालपी स्टेशनपर ही 'प्रताप'मे मुझे वर्माजीके स्वर्गवासका दुःखद समाचार मिल गया। मै कानपुर शामको पहुँचा, वर्माजी प्रातःकाल ही परलोक सिधार चुके थे। उनके अन्तिम दर्शनोंसे भी मै वंचित रह गया। इसे मै अपना घोर दुर्भाग्य मानता हूँ।

दिसम्बर १९४९]

शहीद नारायणदास खरे

"यदि खरेजी जीवित रहे तो आगे चलकर यही बुन्देलखण्डके निर्माता बनेंगे।"

बन्धुवर नारायणदास खरेकी मृत्युके बहुत दिन पहले हमने यह बात अपने अनेक मित्रों तथा सहयोगियोंसे कही थी। ज्यों-ज्यों मै उनके निकट सम्पर्कमे आता गया, मेरे हृदयमे उनके प्रति श्रद्धा बढती ही गई। खरेजीके चरित्रमे निर्भयता, आत्मत्याग, स्वाभाविकता, वाक्पटुता, परिश्रमशीलता और हास्यप्रवृत्ति आदि अनेक गुणोंका ऐसा सामञ्जस्य-युक्त विकास हुआ था कि वे बडी आसानीके साथ बुद्धि-जीवियो तथा श्रम-जीवियोंके स्नेह-भाजन तथा श्रद्धा-पात्र बन जाते थे। अपना मजाक खुद उड़ानेकी दुर्लभ प्रवृत्ति उनमे विद्यमान थी और साथ ही शिष्यत्वकी भावना भी मौजूद थी। यद्यपि अपने सार्वजनिक भाषणोंमे वे जानबूझ-कर अपनी जबानपरसे काबू छोड देते थे—अधिकारी-वर्गकी कठोर-से-कठोर आलोचना करना उनका प्रिय कार्य था और उसमे वे शिष्टाचारकी सीमाका भी उल्लघन कर जाते थे—तथापि निजी बातचीतमे उन्हें हमने सदा अत्यन्त सुसंस्कृत ही पाया था।

खरेजीके साथ हमारा कई वर्ष तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा! यद्यपि मन-ही-मन हम सदैव उनकी सराहना करते थे, तथापि ऊपरी बातचीतमे उनका मज़ाक़ उड़ाना ही हमने अपना कर्तव्य समझ रखा था! जिस क्रान्तिकारी पथके वे पथिक बन रहे थे, वह हमारी शक्तिके सर्वथा बाहरका था; जिस राजनीति-सरोवरके वे पारंगत थे, हम सदा उस तालाबके दर्शक

ही रहे है और हमारी आराम-तलबी तथा उनकी कष्ट-सहिष्णुतामें तो ज़मीन-आसमानका अन्तर था ही।

भगवान् वेदव्यासने भारतके विदुलोपाख्यानमे विदुलाके द्वारा उसके पुत्रको जो उत्तेजक उपदेश दिलवाया था उसे खरेजीने सुना था या नहीं, यह हमे ज्ञात नही, वे अपना आचरण उसीके अनुसार बना रहे थे। "बेटा, क्षणभरके लिए तेंदूकी लकडीकी तरह जलो, भुसकी तरह धुँधुआते क्यो हो ?"

"अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिर्जीविषुः॥"

यह आशंका हमे अवश्य थी कि अपनी हथेलीपर जान लिये हुए यह तेजस्वी नवयुवक कभी भी अपने प्राणोंको न्यौछावर कर सकता है, फिर भी मनमे हम यही आशा रखे हुए थे कि भावी बुन्देलखण्डमे बडे-से बडा रचनात्मक कार्य खरेजीके द्वारा ही हो सकेगा।

अपने आत्म-बलिदान द्वारा वे जिस सर्वोच्च पदको पहुँच गये हैं, उसकी कल्पना करके आज हमे अपने उन तमाम भौंड़े तथा भद्दे मज़ाकों पर आत्म-ग्लानि हो रही है और अपनी इस श्रद्धाञ्जलिको हम प्रायश्चित्त स्वरूप ही मानते हैं। उनकी स्वर्गीय आत्माके प्रति हम नतमस्तक तथा क्षमा-प्रार्थी है।

जब कभी खरेजी हमे मिलते, हम छूटते ही यह कहते—"भई खरे! तुम पॉलिटिकल सत्संगी हो! तुम्हारी गर्दनकी रस्सी तो मोलोटोवके हाथमे है और दिल्लगीकी बात यह है कि तुम अपनेको स्वतन्त्र समझ बैठे हो!"

खरेजी हमारे इस व्यंगके उत्तरमे खिल-खिलाकर हँस पडते। वे हमारे बुर्जुआई रहन-सहन तथा राजाश्रित अराजकवादसे खूब परिचित थे, पर उन्होंने हमारे मज़ाकोको सदा सद्भावनासे ही ग्रहण किया और हमारे कटाक्षोका उन्होंने कभी भी कठोर उत्तर नहीं दिया।

एक दिन तो मजाक मजाकमें हमने कैस्टर आइल (अंडीके तेल) की बोतल खरेजीके सामने मेजपर रख दी। खरेजीने कहा—"आज चाय नहीं मिलेगी क्या ? और यह क्या दवा है ?"

मैंने कहा—"बस आज तुम्हें तुम्हारे राजनैतिक रोगकी यह औषधि पिलाई जायगी। अच्छा डोज दिया जायगा। मुसोलिनी अपने राजनैतिक विरोधियोंको अंडीका तेल पिला-पिलाकर कमजोर कर देता था। बस अब उसीका हम भी अनुकरण करेंगे !"

खरेजी खूब हँसे और फिर बोले—"पहले हमारा कसूर तो बतला दिया जाय, फिर हम खुशीसे यह भी पी लेंगे।" हमने कहा—"कसूर-वसूर हम कुछ नहीं बतलाते। देखते नहीं, गाँववालोंको मिट्टीका तेल मिलनेमे कितनी तकलीफ होती है ? बेचारे दस-दस मीलसे पैदल चलकर आते है, तब आधी बोतल दी जाती है। और कभी नहीं भी मिलती ! तुम आन्दोलन करो और उन्हें तेल दिलवाओ।"

खरेजीने कहा—"तो बस, इतनी-सी बातपर आप उस हत्यारे फैसिस्ट मुसोलिनीके अनुयायी बनने जा रहे है ? तेलका प्रबन्ध हम करेंगे।"

हमने कहा—"अच्छा, आज तुम्हें माफ किया जाता है।"

तत्पश्चात् चाय आई। खरेजीको चायके साथ फूलबरी—चावलकी बनी हुई और तली हुई—बहुत प्रिय थी और जब कभी वे पधारते, बडी बेतकल्लुफीके साथ फूलबरी बनवानेका आग्रह करते ! घरके बालबच्चोंके साथ हिलमिल जाना खरेजीके लिए बडा आसान था।

एक दिन हमने कहा—"तुम कम्युनिस्ट लोग बस लैक्चर देना ही जानते हो। हम तो तब जाने जब हमारे वीराश्रममें आकर घास छीलो !"

दूसरे दिन हमने देखा कि घास छिली हुई है ! ख़रेजी कहींसे हँसिया माँग लाये थे और खूब परिश्रम करके उन्होंने घास छील दी थी। जब

मैने उनके चेहरेपर कुछ थकान-सी देखी तो पूछा—"आज कुछ चेहरा उतरा हुआ-सा क्यों है ?" खरेजीने मुसकराते हुए कहा—

"वैसे ही ! कोई खास बात नही है !"

मैने फिर आग्रह किया तो बोले—"आपसे क्या छिपाऊँ ? महीनोंसे जुन्नरी खा रहे है। कल वह भी बहुत खराब मिली। पेटमे बहुत दर्द रहा। कोई फिक्र नही, अपने आप ठीक हो जायगा।"

मुझे अपनेपर—अपने गेहूँ खानेपर—बडी ग्लानि हुई ! जब बुन्देल-खण्डके सर्वोत्तम कार्यकर्त्ताको गेहूँ नही मिलते तब हम लोगोंका—जो दूसरे प्रान्तके है—उच्चकोटिका रहन-सहन एक भयंकर अपराध था—अक्षम्य विचार-हीनता।

कई वर्ष पहले हमने उन्हें अछूत विद्यालयमे आठ-नौ रुपये महीनेपर शिक्षकके तौरपर नियुक्त कर दिया था। एक दिन कुण्डेश्वरके मेलेके अवसरपर हम टहलके बाहरसे लौटे तो क्या देखते है कि घरके भीतर चबूतरेपर अपने छात्रों—मेहतरोके बच्चो—के साथ बैठे हुए खरेजी कोदोंकी रूखी रोटी खा रहे है ! मैने कहा—"यह क्या बात है ? क्या हम आपके भोजनका प्रबन्ध नहीं कर सकते थे ?"

खरेजीने उत्तर दिया—"सो तो ठीक है, पर हमे तो सदा इन्हींके साथ रहना है और इन्हींके बीच इन्हीका भोजन करना है। एक-दो दिनकी बात तो है नही, हमने अपना सिद्धात बना लिया है कि जिनकी सेवा करना, उन्हींके बीच उन्हीं जैसा खाना खाना !" खरेजीके लिए यह कोरमकोर सिद्धान्त नही था। वे तदनुसार आचरण भी करते थे। एक बार शामके वक्त हमारे पासके ग्राममे प्रचारार्थ आये। हमारा अनुमान था कि घटे-दो घंटे बाद लौटकर वे व्यालू हमारे यहाँ ही करेंगे और तदर्थ हमने प्रबंध भी कर लिया था, पर खरेजी रातभर वहीं रहे ! पीछे पता लगा कि किसी अछूत भाईके यहाँ, जो ज्ञातिसे पतित था, उन्होंने स्वयं मॉगकर भोजन

किया था ! प्रातःकालमें हमने शिकायत की तो बोले—"जिनके बीच काम करना—उन्हींका भोजन करना—वही हमारे लिए अमृत है"।

एक दिन जब कि ओरछा राज्यमें मन्त्रि-मण्डलके निर्माणकी बातें चल रही थी, और यह भी चर्चा थी कि कम्यूनिस्ट पार्टीकी ओरसे भी एक आदमी ले लिया जायगा, हमने खरेजीसे पूछा—"खरेजी, अगर तुमसे कहा जाय कि मत्री बन जाओ, तो क्या करोगे ?"

खरेजीने कहा—"मंत्री-फंत्री बनना हमारा काम नही। हम तो किसी अन्य विश्वासपात्र व्यक्तिको बनानेके पक्षमे है।"

हमने फिर कहा—"यह तो हमारे सवालका जवाब नहीं हुआ। हम तो पूछते है कि अगर तुम्हीं मंत्री बना दिये जाओ तो क्या करोगे ?"

खरेजी बोले—"तो सुन लीजिये, पहला काम हम यह करेंगे कि अपनी तनख्वाहपर तुलसीदल रख देंगे। फिर मेहतरोंके पास जाकर कहेंगे कि भैया दो-दो पैसे महीने सब हमारे लिए जमा करो और किसानोंसे जुनरी, दाल लेंगे और मजदूरोंसे जेब-खर्च।" फिर मैंने पूछा अपने वेतनमेंसे अपनी पार्टीको कुछ नहीं दोगे ? खरेजीने कहा—"नही, एक कौडी भी नहीं। अभी अपनी पार्टीकी सरकार हम थोड़े ही बना रहे है।"

खरेजीमें पदलोलुपता नामो-निशानको नहीं थी। मंत्रित्वके लिए लालायित एक सज्जनसे उन्होंने कहा था—"हम लोगोंको पदोंके चक्करसे बचना चाहिए। सुयोग्य व्यक्तियोंको भेजकर उनसे अपने द्वारा निर्धारित नीतिसे काम लेना चाहिए और उनके नित्यप्रतिके शासन कार्यमें दखल भी न देना चाहिए।"

पर खतरेके मामलोंमें खरेजी सबसे आगे रहते थे। वक्तपर उन्हे खूब सूझती थी—वे प्रत्युत्पन्नमति थे। एक रियासती कार्यकर्त्ताने हमे सुनाया:—

"सन् १९४२ के आन्दोलनकी बात है। हम अमुक स्थानपर एक अधबना बम रूमालमें लपेटे चले जा रहे थे कि हमे यह आशका हुई कि

कहीं खुफ़िया पुलिस हमारा पीछा तो नही कर रही है! इतनेमें खरेजी हमें दीख पड़े। हमने उनसे कहा कि हम आफतमे फँसने ही वाले हैं! पुलिस हमारा पीछा कर रही है! खरेजीने कहा "कोई फ़िक्रकी बात नही। चलो पास ही एक वैद्यजीका मकान है, वे बाहर गये हैं? उसीमे घुस चलें!"

हम लोगोने यही किया। फिर खरेजीने दरवाजा बन्द करते हुए कहा, "मै यहाँ दरवाजेपर खड़ा हूँ। तुम तबतक अपनी चीजको दवाइयोंके उस बोरेमें सबसे नीचेकी ओर एक कोनेमे पिनसे लगाकर रख दो, इस ढंगसे कि बोरेको झाडते वक्त वह गिर न पडे? बस देर मत करो। पुलिस पहले मुझे पकडेगी, उसमे कुछ मिनट तो लग ही जायेंगे। उसके बाद वह तुम्हारे पास पहुँचेगी।" मैने यही किया था कि इतनेमे दरवाजे पर पुलिस आ पहुँची! खरेजी पहले गिरफ्तार हुए। इसके बाद पुलिसने मेरे पास आकर पूछा—"इस बोरेमे क्या है?" मैने उत्तर दिया—"वैद्य जीका घर है। इसमे दवाइयाँ होंगी।" हुक्म मिला—"इसे झाडो"तदनुसार कोना पकडकर मैने तमाम दवाइयाँ एक साथ उलट दीं! पुलिस वाले—"समेटो-समेटो, इन्हें!" मैंने कहा—"मैने तो साहब पहले ही बतला दिया था"। सारी औषधियाँ जो तितर-बितर हो गई थी, मैंने फिरसे भर दीं और मेरा वह विस्फोटक-पदार्थ नीचे ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहा!"

एक बार खरे जी किसी रियासती-आन्दोलनसे लौटे तो मैने पूछा-"भई खरे! तुमने अपनी पार्टीसे भी पूछा था कि इस आन्दोलनके बारेमें पार्टी का क्या मत है? कि यो ही अललटप्पू चाहे जिस आन्दोलनमें कूद पड़ते हो?"

खरेजीने कहा—"इतना वक्त ही कहाँ था? ऐसे मौकेपर तो तुरन्त निर्णय करना पडता है। पीडित जनताको जिससे बल मिले, बस वही

अपना लक्ष्य है। ऐसे अवसरोपर पार्टीके फैसलेकी प्रतीक्षा न करके मै आपकी विकेन्द्रीकरणकी नीतिका अनुयायी बन जाता हूँ !"

खरेजीका यह व्यग मेरे विकेन्द्रीकरणके सिद्धान्तपर था, जिसकी चर्चा मै उनसे मौके-बे-मौके किया करता था।

खरेजो राजनैतिक-क्षेत्रकी गतिविधिसे परिचित थे और कोरमकोर सिद्धान्तोंको ताकमे रखकर वे व्यवहार-बुद्धिसे काम लेते थे।

खरेजीको डाट-फटकार बतलाना हमने अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया था। एक दिन हमने उनसे कहा—"तुम लोग कुछ नहीं करते ! तीन-तीन वर्षसे वीराश्रमकी रजिस्ट्री भी नहीं करा पाये। वीराश्रम तुम्हारा ही तो है। उसमे तुम्हें कुटी बनानी है—नारायणकुटीर, समझे ?"

खरेजी खूब हँसे—"तब ठीक है। अभी हम प्रबन्ध करते हैं। दूसरोसे आप कहते रहे। हमें क्यो हुक्म नही दिया ? अब तक यह काम कभीका हो गया होता।"

इसके बाद ही खरेजीको यकायक झाँसीके लिए भागना पडा। वहाँ पहुँचकर पहला कार्ड, जो उन्होंने भेजा, उसमे वीराश्रमके लिए चिन्ता प्रकट की थी। वहाँसे लौटकर वे अपने मित्र पन्नालालजी वकीलको मेरे पास ले आये और सारा मसौदा तैयार कराया। ट्रस्टी लोगोमें हमने खरेजीका नाम भी रक्खा था। उन्होंने हमारे आग्रहपर इसे स्वीकार भी कर लिया था।

दुर्भाग्यकी बात है कि खरेजीके सिवाय और किसीने वीराश्रमकी विशेष चिन्ता नही की और वह नारायण-कुटीरका स्वप्न अधूरा ही रह गया ! भला अब कौन उसे पूरा करेगा ?

× × ×

२७ नवम्बरकी बात है। शामका वक्त था। खरेजी कुण्डेश्वर पधारे। उस वक्त उन्हें जुकाम था। नियमानुसार चाय तैयार हुई और उनकी

प्रिय फूलबरी भी ! चाय मै एक बार पी चुका था । फिर एक प्याला उनके साथ भी ले लिया । दिमाग़की खुश्कीमें अंट-सट बकना और दूसरेकी न सुनकर अपनी कहे जाना, दिग्विजयका यह अनुभूत-प्रयोग वर्षोंसे हमारे हाथ लग चुका है ! अपने स्वभावानुसार एक लेक्चर खरेजीको चायके साथ ही पिला दिया !

मैंने कहा—"खरेजी ! तुम्हारा ये आन्दोलन बिल्कुल व्यर्थ है—फालतू है !"

खरेजीने पूछा—"क्यों ?"

मैंने महा—"हमारे ब्रजमें एक कहावत है—'जितनौ घी डारौगे उतनौई मौइन होइगो'। तुम लोगोंमेंसे स्वतन्त्रताकी बलिवेदीपर एक भी आदमी तो बलिदान नहीं हुआ ! तुम सस्ती चीज चाहते हो—जापानी दियासलाईकी तरह ! बिलकुछ सस्ती ! यो कहीं उत्तरदायी शासन मिला है ?"

इस बार खरेजी कुछ गम्भीर हो गये और बोले—"दादाजी ! आज आपने ठीक बात कई है ! भौत पतेकी । पै ई बात खौ इतने दिननसैं मनमें काय छिपा राखी थी ! जा सोऊ हम पूरी करै । देखत जाव आप तो ! बलिदान सोऊ होइऐ ।"

खरेजीकी आँखोमें अद्भुत तेजस्विता थी और स्वरमें पूर्ण दृढता । उससे मै चकित रह गया और अपने अनधिकार-पूर्ण व्यगपर लज्जित होकर मैंने उस प्रसंगको ही बदलते हुए कहाः—

"खरेजी, तुम्हे जुकाम है । बुखारका डर है । महीने-भर यहाँ—हमारे पास रहो । अभी न जाओ ।" खरेजीने कहा—"अभी तो मोर्चे पर जाना ही है । लौटकर महीनेभर रहनेकी पक्की रही ।"

खरेजी चले गये और ऐसी जगह चले गये, जहाँसे लौटकर कोई नही आया !

× × ×

"खरेजीकी तस्वीर आ गई, तस्वीर आ गई !" डाकखानेमें जब 'जनयुग'का अंक आया तो छोटे-छोटे बच्चे चिल्लाने लगे ! मानो वे खरेजीके वात्सल्यभावका प्रमाण दे रहे थे !

उनके बिखरे बालवाले चित्रको देखा तो हमारे नेत्र सजल हो गये—यह थी एक सिद्धान्तहीन बुद्धिजीवीकी शिष्टाचार-युक्त श्रद्धांजलि !

और 'विन्ध्यवाणी' सम्पादक प्रेमनारायणजी कई दिन तक भूखे-प्यासे उनकी लाशकी तलाशमें घूमते रहे ! राजनैतिक-क्षेत्रके साथीका यह वियोग था ।

पर खरेजीको सर्वोच्च प्रमाणपत्र एक गरीब मेहतरानीने दिया, जब उसने आँखोंमें आँसू भरकर एक महिलासे पूछा—"कछू उनको पतौ चलौ ? हमारे घर आउत्ते तो जबरईं रोटी माँगकै खात्ते । 'जीजी ! तुमने का बनाओ खाओ तो ।' काय कछू उनकौ पतौ परौ ? कबनौं आँये ?"

यह थी एक श्रमजीवीकी सच्ची चिन्ता—उसका हार्दिक उद्गार—खरेजीके लिए सबसे बड़ा सार्टीफिकेट । खरेजी उन्हींके लिए जीवित रहे, उन्हींके लिए शहीद हुए !

स्वर्गीय देवीदयालु गुप्त

२६-१२-'४६

कुण्डेश्वरसे हम दोनों टीकमगढकी ओर चले जा रहे थे—कविवर देवीदयालुजी गुप्त और मैं। कविजी अपने घर लौट रहे थे। मै यों ही पूछ बैठा—"आपके घरपर कौन-कौन हैं ?"

गुप्तजीने कहा—"मै, मेरी पत्नी और एक चार वर्षकी लडकी मानकुँवरि। एक लडकी और भी थी, पर वह ग्यारह वर्षकी होकर मर गई ! उसका नाम था सरी।"

मैने पूछा—"कैसे मर गई ? कुछ बीमार थी क्या ?"

गुप्तजीने कहा—"बीमार क्या थी, वह तो भूखों मर गई! मै अभागा उसे अन्न भी नही दे सका और वह दिन-पर-दिन निर्बल होती गई।" और उनके नेत्र सजल थे। मेरे हृदयको धक्का लगा और अधिक सहानुभूतिके साथ मैंने उनका शेष वृत्तान्त सुना—

"जब घरमें अनाजका दाना न रहा और कई-कई फाके होने लगे, तो मैं अपने एक रिश्तेदारके यहाँ बाल-बच्चोंको पहुँचा आया, इस उम्मीदसे कि उन्हें वहाँ खाना तो मिल ही जायगा। यद्यपि इस प्रकार बिना बुलाये जाना मेरे लिए बड़े शर्मकी बात थी, पर क्या करता, कोई चारा न था। सरी मेरी लडकीका देहान्त वहींपर हो गया, और यद्यपि मैं वहाँसे १०-१२ मीलकी दूरीपर ही था, तथापि मुझे सूचना दी गई दस दिन बाद ! मै ग़रीब जो था, इसलिए मुझे खबर भेजने तककी भी जरूरत नहीं समझी

गई । मेरी पत्नी सरीको एक बात याद कर-करके अक्सर रोया करती है और उसके साथ मै भी रोता हूँ । ...”

देवीदयालुजी सकोचवश कुछ रुके । मैने कहा “आप निस्संकोच वह बात सुना दीजिए ।”

वे कहने लगे—“एक दिन ग्रामकी एक बुढियाने आकर सरोंसे पूछा—‘बिटिया, तुम उपतिके (बिना बुलायें खुद ही) क्यों चली आई ? इससे तो बडी बदनामी होती है ।’ बड़े भोलेपनके साथ उस लडकीने उत्तरमे बस इतना ही कहा था—‘अजा (दादीजी), हमारे घर खानेको अन्न नही था, सो चले आये ।”

देवीदयालुजीकी आँखोसे टप-टप आँसू गिर रहे थे । कुछ देर बाद वे बोले—“मै भी कैसा अभागा हूँ कि अपनी पुत्रीको अन्न भी न दे सका । उस बातचीतके तीन-चार दिन बाद वह बेचारी मर ही गई । अन्तिम समय मै उससे मिल भी न सका ।’ ”

मैने भाई देवीदयालुजीको ढॉढस बँधाते हुए कहा—“मृत्युको भला कौन रोक सकता है ? इसमे आपका क्या कुसूर है ?” पर यह सब शिष्टाचारकी बाते थी । हम लोग एक मील निकल आये थे । मैंने कहा—“गुरुजी, आप अपनी छोटी पुत्री मानकुँवरिको मेरा आशीष कहना । कभी-न-कभी उसे देखनेके लिए मैं जरूर आऊँगा ।”

देवीदयालुजीके चेहरेका भाव कुछ बदला और वे बोले—“आप भला वहाँ क्यों आने लगे ! मानकुँवरि चार वर्षकी है, वह मेरे पहुँचते ही पॉवोसे लिपट जायगी ।”

मैने कहा—“आप विश्वास तो कीजिए । मुझे एक बार आपकी ओर आना ही है ।”

देवीदयालुजीने अपनी नोटबुकसे निकालकर एक कविता पढ़ी, जिसका आशय यह था कि उनकी एक पुस्तक अवश्य छपा दी जाय ।

"कृपा करिए दीनपर चौबेजी तत्काल।
एक किताब छपाइए केवल यही सवाल॥
केवल यही सवाल वचन मुझको दे दीजे।
होवे मनको धीर सुयश जगमें ले लीजे॥
कह देवी कविराय हृदयकी विपदा हरिए।
नही और अवलम्ब कृपानिधि किरपा करिए॥

मैने कहा—"एक नही, आपकी दो किताबे छपेगी। चूँकि मेरे नगर फीरोज़ाबादमे ही आप लूट लिये गये थे, इसलिए उसकी नैतिक जिम्मेदारी मुझपर है, सो एक किताब तो फीरोजाबादवाले छपा देंगे और दूसरी आपके भक्त और प्रेमी।"

देवीदयालुजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"दो न सही, एक तो छप ही जाय।"

मुझे कुछ हँसी आ गई और मैने कहा—"आप सन्तोषसे घर पधारिए, मै वचन देता हूँ।"

देवीदयालुजी चले गये, और मै यही सोचता रहा कि आत्म-प्रकटीकरण लेखक और कविके लिए कितना अधिक आवश्यक है।

× × ×

१७-१-'४७

भाई नारायणसिंह परिहारका कार्ड मिला—"क्या लिखूँ और कैसे लिखूँ! फिर भी लिखनेका दुस्साहस कर रहा हूँ और वह यों कि आपके पाससे आकर श्री देवीदयालुजी घर पहुँचते ही निमोनियासे पीड़ित हो गये। मुझे उनके आने तथा बीमार होनेका एक चलता हुआ सन्देश मिला कि फ़ौरन जाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि हालत पिछले नौ दिनोसे खराब है। फिर भी चेष्टा की, किन्तु बेकार हुई और वह गत बुधवारको

स्वर्गवासी हो गये—पुनश्च—कविराजकी शय्यापर सिरहाने एक कविता धरी मिली। बीमारीकी हालतमें कब लिख ली, कह नहीं सकता, किन्तु उनकी आन्तरिक अभिलाषा स्पष्ट है। अतएव सेवामें प्रस्तुतकर प्रार्थी हूँ कि आत्मिक शान्ति-हेतु उनकी इच्छा पूर्ण करनी ही चाहिए। भले ही हिन्दीजगत् न अपनाये, पर मित्र-जगत् तो अपनायेगा ही। वह कविता यह है :

श्री चतुर्वेदीजीसे प्रार्थना

जैसी अबै लौं कृपा करी दीन पै,
या से भविष्यमें दूनी बतइयो।
जो अपराध भये मुझ पै इतै,
ताकौ हू भूल न चित्तमें लइयो।
औगुन कौ हृदयौ तो कहावत,
आप बड़े करुणा को दिखइयो।
आशा मेरी कर दीजियो पूरन,
एक किताब अवश्य छपइयो।"

कार्ड पढकर सिर चकरा गया ! भाई देवीदयालुजीकी एक-एक बात याद आने लगी ! एक बार वे तीन दिनतक साथ रहे थे, दूसरी बार दस-बारह दिन और तीसरी बार भी पाँच-सात दिनतक उनके सत्संगका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था।

देवीदयालुजी पढ़े-लिखे नाम-मात्रको ही थे, कविताकी बीमारी उन्हें बाल्यावस्थामें ही लग गई थी। अपना परिचय वे इस प्रकार देते थे-

"पुत्र वासुदेवका बुंदेलखण्ड-वासी व्यक्ति,
जन्मभूमि ढेरी ग्राम वैश्य-वंशबोरा हूँ।

केवल उपासक हूँ सिंहवाहिनीका सदा,
दाहिनी है किंकर पै भक्ति-भाव कोरा हूँ ॥
सुजन समाजसे सनेह सरसाता सदा,
किन्तु गर्वशालियोंका गर्वमुखमोरा हूँ ।
देवी कवि-कोविद-कृपाका अभिलाषी बडा,
कविता-कलाका अनभिज्ञ तुकजोरा हूँ ॥"

जब सितम्बर, १६४५ में वे हमारे साथ दस-बारह दिन रहे थे, मैने एक दिन उनसे कहा—"आप कहीं नौकरी क्यो नही कर लेते ?"

उन्होने उत्तर दिया था—"मेरे-जैसे बेपढेको नौकरी देगा कौन ?"

मैंने कहा—"कविता तो आप अच्छी कर लेते है ।"

उन्होने उत्तर दिया—"ये तो 'प्राकृतिक दृश्य' हैं। सचमुच मै बिल्कुल नही पढा ।"

'प्राकृतिक दृश्य'पर मुझे हँसी आ गई। गुप्तजी शायद यह कहना चाहते थे कि कविता करना उनका सहज स्वाभाविक गुण है, पर उसके बजाय वे उसे 'प्राकृतिक दृश्य' कहते थे। हम लोगोंने उनका नाम 'प्राकृतिक दृश्य' ही रख छोडा था। जब देवीदयालुजी बहुत छोटे थे, उनके पिताजी ने एक बार उनके पडोससे नमक मँगवाया। आपने घूम-घामकर यह उत्तर दियाः--

"चतुरे कौ तारौ लगौ पंगे करत दतौन ।
दद्दा तें मौंडी कहै घरमें नैयाँ नौन ॥"

देवीदयालुजीके पिता श्रीयुत वासुदेवके सात पुत्र हुए। प्रथम पत्नीसे श्री गङ्गाप्रसादजी और द्वितीयसे सर्वश्री बनवारीलाल, मिट्ठूलाल, सिट्टूलाल, बच्चीलाल, मन्नीलाल, मङ्गलीलाल, और देवीदयालु। पिताजी अनाजका व्यवसाय करते थे, और देवीदयालुके अन्य भाइयोंने भी पैतृक

व्यवसायको ही ग्रहण किया; पर देवीदयालुजीको बाल्यावस्थासे ही कविताकी बीमारी लग गई। पिताजीको पुस्तक-सग्रह करनेका शौक था और स्वयं पढ़ते भी खूब थे। निकटवर्त्ती ग्रामोंमे उनके पुस्तक-ज्ञानकी धूम थी। ग्रामीण पण्डित उनसे घबराते थे, क्योकि वे पण्डितोंकी भूल निकाल देते थे, यद्यपि थे वे बड़े निरभिमानी। इस प्रकार साहित्य-प्रेमका रोग देवीदयालुजीको पैतृक ही था। अन्य भाई लोग व्यापार करके गुजर-बसर कर लेते है, पर देवीदयालुजी बिल्कुल पंगु ही बन गये। उन्हीके शब्दोंमे सुन लीजिए—

"मेरे पिताजीने सन् '४२ के द्वितीय ज्येष्ठमे अमरपुरकी यात्रा की। मैंने अत्यधिक क्रन्दन किया, परन्तु होता क्या! इसके बाद सब भाई पृथक्-पृथक् हो गये और अपनी-अपनी दुकानदारी करने लगे। मै नराधम हाथ मलते रह गया, क्योकि मेरे पास एक छदाम भी नही था। हाँ, श्रीमतीजीके पास कुछ चाँदीकी चीजे थीं, वही परमाधार थीं। अब तो मेरे ऊपर पिपत्तिके बादल गरजने लगे, क्योंकि श्रीमतीजी अनाज तथा खर्च आदिके लिए वाग्बाण मारने लगीं। मैंने तुक्कडबाज़ी प्रारम्भ कर दी और राजा-रईसोंके पास जा-जाकर उनकी प्रशंसाकी रेल चलाई। तब भी पेट अधूरा बना रहा। एक बार मैं समरथके प्रधान मन्त्री ठाकुर सुजानसिंहजीके पास गया, तो मैंने अपनी आर्थिक स्थितिका सागोपाग वर्णन किया और चार-छैः कवित्त उनकी तारीफ़मे सुनाये। आपने द्रवित होकर वर्त्तमान श्रीमान् महाराजा साहबसे कहकर सात रुपये मासिकपर ढेरीमें मास्टर नियुक्त करा दिया। मैंने एक वर्षके करीब छात्रोंको पढ़ाया। शिक्षा-विभागके इन्स्पेक्टर पं० किशोरप्रसादजी लडकोंके परीक्षार्थ आये। आपने सरकारी कोठीपर छात्रोंको बुलाकर परीक्षा ली। लड़के विफलता देवीकी शरण हुए। मुझसे उत्तर माँगा गया, तो मैने स्पष्टतः कह दिया कि "मैं कौन अँगरेजी विधानसे पढ़ा हूँ?" फिर क्या विलम्ब

था ? जीविका-गायको सिंहने यमालय भेज दिया। अब मैं निराश्रय होकर श्वानवत् फिरने लगा! जो कुछ पैतृक सम्पत्ति थी, वह गिरवी रख गई। उसे मै अभी तक नही उठा सका। उठाऊँ कहाँसे ? 'नौ खाऊँ और तेराकी भूख' कहावत चरितार्थ हो रही है। दो माहके क़रीब हुए, तब मै श्रीमतीजीकी पैरकी गूजरी और गॉगरा गिरवी रखकर २२ रु०में फ़ीरोजाबाद कामकी तलाशमे गया था। वहॉ एक.. पाल नामका व्यक्ति जिला एटा गॉव कलूचा नगलाका ६० रु० के बिस्तर, कपड़े आदि चोरी ले गया। मै तथा एक साथी दोनों आदमी फीरोजाबादसे लॅगोटी लगाकर भूखों मरकर घर आये। घर आते ही भीषण कोलाहलकी दुन्दुभी बजने लगी। मैं आठ रोजका भूखा था, परन्तु श्रीमतीजीने न तो आटा दिया और न रोटी बनाकर खिलाई। मै तो भूखसे मरा जाता था। तब मैंने श्रीमतीजीकी अच्छी तरह ताडना की। अब प्रतिवासी इकट्ठे हुए और अन्य भाई रोना सुनकर दौड आये। मुझे पकड लिया। मै द्वारे निकल आया। अब भारी भीड हो गई। मेरी विरदावली प्रारम्भ हुई। भीतरसे श्रीमतीजी रोकर बोलने लगी कि इन्होने घर सत्यानाश कर दिया। छोटी बच्ची अनाथकी तरह भूख-भूख चिल्ला रही है और ये फीरोजाबादसे बिस्तर खोकर बाबाजी बनकर आ गये है! अभी तीन चीजें गिरवी रखी हैं। पीतलका गगरा, जैजम, गूजरी। तीनों चीजोंके मय ब्याजके ३४ रु० या ३५ रु० बैठते हैं। जब आठ या नौ रोजमे यह कलह-पुरान श्रीमतीजीने बन्द किया, तब मैने कहा कि मै टीकमगढ़ जाना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या सलाह है ? तब उन्होंने कहा, "फीरोज़ाबाद-जैसे लॅगोटी लगाकर न आ जाना। मैने कहा कि "जगदाधार रक्षक है। तब उन्होंने ऑखोंमें ऑसू डबडबाकर बक्ससे निकाल गूजरी मुझे दे दी। मै उसे गिरवी रखकर टीकमगढ़ चला आया। भविष्य कर्म दैवाधीन।"

देवीदयालुजीकी कविता

एक बार समथर-नरेश उनके ग्राम ढेरीमे पधारे थे। उस घटनाका वर्णन देवीदयालुजीने इस प्रकार किया है :—

"ढेरीमे आना हुआ जब आपका,
भारी कृपाकर मोहि बुलाया।
हुक्म दिया तत्काल दयालु हो,
लाओ बनाकर छन्द सुहाया।
तेल उधार मँगाया था रातको,
डालके बाती सुदीप जगाया।
नींद भुलाई करी कविता भली,
पाई न पाई है नाम कटाया!"

—२—

"हुक्म तरक्कीका दिया काटा नाम नरेश;
आई जौलाई जभी जौ लाई सन्देश!"

—३—

"जाती जब आजीविका तब उर धरै न धीर;
देवी बाँझ न जानती प्रसव-कालकी पीर।"

वास्तवमे देवीदयालुजीकी नौकरीका छूटना चार प्राणियोंके कुटुम्बके लिए महान् दुर्घटना थी। जब वे इस घटनाको सुनाते तो मुसकराते जाते थे, पर उनकी उस मुसकराहटके पीछे घोर हार्दिक वेदना छिपी रहती थी। जब मैंने पूछा कि आपकी, कितनेकी नौकरी थी तो बोले—

"गुज़र गये राजा सभी, अनरथ काहु न कीन।
सात रुपैया की हुती गुजर, गुजर[1] लई छीन।"

---

१ समथर-नरेश गूजर ठाकुर हैं।

मैने देवीदयालुजीसे कहा—"इस कविताको कही न छपाना, नही तो राजा साहब आपको जेल भेज देंगे।"

उन्होंने बड़े भोलेपनसे कहा—"जेल क्यो भेज देंगे?"

मैने कहा—"इसमे आपने उनकी जातिपर व्यङ्ग किया है।"

बेचारे देवीदयालुजी एक हवालातकी सैर कर भी आये थे। उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :—

"बाहरका बाबा एक ढेरीमें निवास करे,
मेरे ही मकान बीच डेरा डलवाया है।
रपट लिखाई कोतवालको बताया नाम,
चोरीका लगाया अभियोग दीन पाया है॥
बैठ रहे बन्दी बने भूख मानती ही नही
चौकीदार साथ दादा भोजन कराया है।
होकर अधीर अकुलाया तब रोने लगा
रणदूला वीरपुत्र जाकर छुडाया है॥

इसके बाद देवीदयालुजीने लक्ष्मीजीको बीसियों कहनी-अनकहनी सुनाकर आदेश दिया था :—

जलजा जलेगी जलद जलेको जलाती है।
बापकी बहोर डाली बैरिन कसाइनने,
कसर लगाई नही बन्दी बन जाता मैं।
क़ैदी लोग मार देते आया है नवीन चोर,
हाड फूट जाते हाय-हाय डकराता मैं।
जैन साब[1] पूछते कवीजी कहो चोरी करी,
दीजिए बयान प्राण देहमें न पाता मैं।

---

१ स्थानीय मजिस्ट्रेट।

ठाकुर नरानसिह[1] मर्द जो बचाता नहीं,
सात पैरीं डूब जातीं बेड़ी खनकाता मैं।

देवीदयालुजीने मानो निश्चय ही कर लिया था, कि प्रत्येक भली-बुरी अनुभूतिको छन्दोबद्ध कर दूँगा। उनकी 'कवि-यात्रा'मे फीरोजाबादमे लूटे जानेका वृत्तान्त करुणोत्पादक है। संकट-कालमें कविता ही उनकी एकमात्र साथिन थी। भोजनके लाले पडनेपर जब उनकी पत्नी मायके चली गई, तो आप लिखने लगे :—

"मडवासे घूम-घूम भाँवरें पड़ी हैं सात,
साथी न कहाई भगे मायके लुगाई है।"

एक बार उन्होंने अपनी 'दरिद्रपच्चीसी'के कुछ अश मुझे सुनाये, तो मैंने उनसे यही कहा—"गुप्तजी, माफ कीजिए, आप बडी असंस्कृत बात लिखते है। कहीं अपने घरवालोंकी इस प्रकार निन्दा की जाती है? एक तो आप कुछ कमाई नहीं करते और फिर ऊपरसे इस प्रकारकी कठोर बातें कहते हैं।"

देवीदयालुजी कुछ सहमे और सिर खुजलाते हुए बोले—"पर जो कुछ मैंने कहा है, वह सत्य है।"

मैंने उत्तर दिया—"सत्य हो सकता है, पर कहने-कहनेके ढंगमे अन्तर होता है।"

देवीदयालुजी बोले—"मैं कौन अँगरेजी विधानसे पढ़ा हूँ। गमार तो हूँ। जैसी बीती, वैसी कह डाली:—

भोजनमें गिनती लगाती नारि रोटियोंकी,
शेरके समान गरज लोचन दिखाती है।

---

१ स्नेही मित्र और सहायक।

एक सेर खाते, न कमाते, कहीं जाते नहीं,
पेट-भर पाते अलसाते नींद आती है।
कवितामें बिघ्न डाल देती आन छातीपर,
मानती न बात रार हाटको लगाती है।
देवी कवि दारिदजी मास खींच रहे आप,
नित्य हडजाई ये कमाई गीत गाती है।

—२—

चार बजे प्रात नारि बैठ गई चकिया पै,
सोर साथ मायकेका सुयश सुनाती है।
एक चीज़ तेरी नहीं जानती मैं जीवनमें,
रात-दिन कलह नदीमें नहाती है।
कोमल कलेजे बीच काकबाणी साल रही,
ठसक बताती, इतराती, सतराती है।
देवी कवि दारिदजी हो रही निशक बडी,
दाँत पीस कुतियासे रंक प्राण खाती है।"

एक बार बरसातमें आपके मकानका पक्का गिर गया। बजाय इसके कि आप उसकी मरम्मतका कुछ इन्तज़ाम करते, उसपर तुकबन्दी करने बैठ गये:—

"बदरा बद बरसौ बहुत, बासव बैर बिसाय,
गुजरौ गजब गरीबपर पक्खा दियौ गिराय।"

जब आप नहरके बँगलेपर चपरासी नियुक्त हो गये, तो वहाँ भी कविता लिख-लिखकर ओवरसियर साहबको सुनाया करते थे। उनके दुर्भाग्यसे दूसरा ओवरसियर आ गया, जिसे कवितासे कुछ भी प्रेम नहीं

था और देवीदयालुजीको 'दाद' के बजाय 'फटकार' ही पुरस्कारमे मिली।

जब देवीदयालुजी हमारे पास १०-१२ दिनके लिए रहे थे, हमने यह विचार किया था कि उनसे कुछ लिखा-पढ़ीका काम लेंगे। पर इसमे हमे निराश होना पडा। आप कुण्डके जल-प्रपातकी ओर टहलने गये, तो वहाँ बैठकर कविता लिखने लगे! जब देरमे लौटे, तो मैने पूछा—"आज कहाँ रह गये?"

उत्तरमें आपने 'कुण्डेश्वर[1]का चित्र-काव्य' सुना दिया—

"झर-झर झरना झर रहा करता कलित-किलोल।
उषा और अनिरुद्धका बजा रहा यश ढोल॥

× × ×

भावनाकी ऊषा आज आती पूजनेको उमा,
प्रेम-माल गूँथ-गूँथ मुदित चढाती है।
हेर-हेर फेर-फेर हिय हरसाती महा,
लेती बलिहारी करतारीको बजाती है।
हृदय सिहाती दीन करुणा सुनाती खड़ी,
होकर विदेह ध्यान आसन लगाती है।
देवी कवि तेरी-सी उदारता न देखी कहीं,
चढा बेलपाती वर पाती वर पाती है।

---

१ कुण्डेश्वर तीर्थ माना जाता है और यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि यहाँपर शिव-पार्वतीकी पूजा करनेके लिए 'उषा' आया करती थी।

देवीदयालुजीने पूरी कविता सुना दी। मैंने समझ लिया कि मर्ज लाइलाज है और मुझे कुछ हँसी आ गई। गुप्तजीको कुछ शंका हुई और पूछा—"क्यों, मेरे पद्योंमे क्या कुछ अशुद्धि हो गई है, या भाव ठीक नहीं प्रकट हुए?"

मैने कहा—"नहीं, आपकी कविता तो बढिया है, भाव भी सुन्दर है, पर मै एक दूसरी ही बात सोच रहा था—एक रोगके विषयमे।" गुप्तजी कुछ चौके। मैने कहा—"मुझे छाजनकी बीमारी है और आपको कविता का रोग लग गया है, और दोनों असाध्य है। थोडी देरके लिए ये भले ही दब जाये, फिर बार-बार उछर आते है।"

देवीदयालुजी हॅसने लगे और बोले—"तो अब कोई इलाज भी बताइए।"

मैने कहा—"कविताकी बीमारीका कोई इलाज सुश्रुत और चरकमे भी नही। यह तो जिन्दगीभरके लिए समझ लीजिए। इसे भुगतना ही पड़ेगा। अब आप एक काम कीजिए। राजा-महाराजाओ और सेठ-साहूकारोंकी तारीफमे लिखना बन्द कीजिए, वह तो माता सरस्वतीका अपमान है। अब आप अपने जनपद बुन्देलखण्डके विषयमे दस-बीस पद्य लिख दीजिए। यहाँकी प्रकृतिका वर्णन कीजिए। कवि-सम्मेलनोंमे उन्हीको सुना दिया कीजिए।

× × ×

पिछली बार—अन्तिम बार—जब देवीदयालुजी पधारे, तो बड़े प्रसन्न थे। वे विवाहके सिलसिलेमे बरातमे आये हुए थे। उन्होने अपनी नवीन कविता 'बुन्देलखण्ड' देते हुए कहा—"लीजिए आपकी आज्ञाका पालन मैंने कर दिया है। अब इसे छपानेकी ज़िम्मेदारी आप पर है।"

मैंने कहा—"आपकी इस रचनाको मै किसी कविको दिखला लूँगा। उनसे संशोधन भी करा दूँगा।"

देवीदयालुजी निराश होकर बोले—"चौबेजी, कोई कवि भला मेरे जैसे गरीब तुक्कड़को रचनापर क्यो श्रम करेगा? सबको अपनी-अपनी पडी है। गरीबोको कौन पूछता है?"

मैंने कहा—"आप इतने निराश क्यो होते है? मेरे मित्र हरिशङ्करजी शर्मा बडे सहृदय कवि है? वे अवश्य बडी सहानुभूतिपूर्वक आपकी रचनाको पढेंगे।"

देवीदयालुजीको बड़ा सन्तोष हुआ और उन्हें यह आशा बँध गई कि उनकी एक पुस्तिका तो छप ही जायगी। [वह अब छप चुकी है भाई हरिशकरजीने सशोधन कर दिया था।]

यह बातचीत २६ दिसम्बर, १६३६ को हुई थी और इसके पन्द्रह दिनके भीतर ही देवीदयालुजीका स्वर्गवास हो गया। पैसोके अभावमें वे स्टेशनसे समथर और अपने ग्रामतक दस-बारह मील पैदल ही गये थे। बुखार उन्हें उस समय था, सो निमोनिया हो गया और उसीमे वे चल बसे। सुना है कि अपनी मृत्युके पूर्व उन्होने कई जगह कुण्डेश्वरके प्राकृतिक सौदर्यकी बडी प्रशंसा की थी और कहा था—"हम स्वर्गसे लौट रहे है।" जो कविता उनके सिरहाने पाई गई, वही उनकी अन्तिम अभिलाषा थी!

अपने जीवनमे हमे बीसियो कवियोके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है; पर हमें अभीतक एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला, जिसे कविताकी बीमारीने इस प्रकार ग्रस लिया हो। उपदेश देना बहुत आसान है। 'शारीरिक श्रम करो, नौकरी करो, मुफ्तका खाना क्यो चाहते हो?' इत्यादि नसीहतोसे भरे लेक्चर देनेमे लगता ही क्या है?

देवीदयालुजीने नौकरी की थी, पर वह सात रुपये महीनेकी नौकरी भी छूट गई। सडकपर मजदूरी भी की थी—दस आने रोज़पर—और

वे नहरके एक बँगलेपर चपरासी भी रहे थे। फ़ीरोज़ाबादके काँचके कार-खानोंमें वे मजदूरी तलाश करनेके लिए ही तो गये थे, जहाँ उनके कपड़े और बिस्तरोंके साथ काव्य-संग्रह भी चोरी चला गया!

बड़े-बड़े नगरोमे अनेक बाग़-बगीचे है और उनपर सहस्रो रुपये व्यय किये जाते है, पर ग्रामोंमे तो किसी नीमके पेड़के नीचे बैठकर ही ग्रामीण जनताको छाया और शान्ति मिलती है। ये नीम स्वतः ही पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। आप उन्हें खेतो, खलिहानोंपर और अथाईके पास पावेंगे। देवीदयालुजी भी बस इन ग्रामीण वृक्षोकी तरह ही थे। कृत्रिम सस्कृतिसे वे कोसों दूर थे। पुराने कवियोकी रचनाएँ अथवा अपनी तुक-बन्दियाँ सुना-सुनाकर वे समथर-राज्यके साहित्यिक रेगिस्तानमे एक छोटा-सा नखलिस्तान बना रहे थे। आज हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार साहित्यिक-गंगाकी धाराओको ऐसे स्थानोपर पहुँचाकर उन नखलिस्तानोको बचाया जाय?

हमारे ये सब सम्मेलन निरर्थक होगे तथा परिषदे फिजूल, यदि उनका कार्य केवल कुछ नगरो तक ही केन्द्रित और सीमित रहे। देवीदयालुजी उन तथाकथित 'क्षुद्र' कवियोके एक प्रतीक थे, जो ग्राम-ग्राममे पाये जाते है, जिन्हे प्रोत्साहन तो क्या, पेट-भर भोजन भी नहीं मिलता और जो अपनी आकाक्षाओंको अपने साथ लिये ही इस संसारसे विदा हो जाते है। अखबारोमे उनका नाम नहीं छपता। न उनके लिए कोई स्वागत-उत्सव होता है, न शोक-सभा। प्रतिष्ठित कवि उन्हें उपहासकी, और साहित्यिक और ऐतिहासिक उपेक्षाकी दृष्टिसे ही देखते है। हाँ, उनकी स्मृति उनके कुछ ग्रामीण मित्रोंके हृदयमें अवश्य बनी रहती है, और वही उनका सर्वोत्तम स्मारक है।

जनवरी १६५०]

श्री शीलजी

"शीलजीने आत्मघात कर लिया !" जब यह हृदयवेधक खबर एक स्थानीय बन्धुने सुनाई, तो मैंने घबराकर पूछा—"क्या कहा आपने ?" उन्होंने उक्त भयकर दुर्घटनाको दुहराया और साथ ही यह भी बतलाया कि उसका विस्तृत ब्यौरा झाँसीके एक पत्रमें छपा है।

शीलजी उस पार चले गये है, जहाँसे कोई लौटकर नहीं आता, और जिन विकट परिस्थितियोंसे मजबूर होकर उन्हें अपने प्रगतिशील जीवनको समाप्त कर देना पडा, उनका पूरा-पूरा ब्यौरा भी हमारे पास नही है। इसलिए उनके उस कठोरतम अन्तिम कृत्यके विषयमे फैसला देना हमारे लिए धृष्टताकी बात होगी। शीलजी यदि अपराधी भी माने जावें, तो भी हम उनके जज नहीं बनेंगे। हाँ, शीलजीका आत्मघात हमारे सामने एक प्रश्नसूचक चिह्नके रूपमें उपस्थित हो गया है। घोरतम निराशाके समय साहित्यिक-समाजका कर्त्तव्य क्या है ? व्यक्तिगत तौरपर इस नाउम्मीदीका मुकाबला कैसे किया जाय ? क्या जन-साधारणसे इस बारेमे कुछ सहायता मिल सकती है ?

शीलजी हमारे साहित्योपवनके एक पुष्प थे, जिसका यश-सौरभ विन्ध्य-प्रदेशकी सीमाको पार करके पास-पड़ोसके जनपदोंको भी सुगन्धित कर रहा था और हमें यह आशा थी कि भविष्यमे वह सम्पूर्ण हिन्दी-जगत्‌में व्याप्त हो जायगा। पर वह पुष्प अकस्मात् ही कुम्हला गया ! उसकी सूखी हुई पंखुडियोंका यह अन्वेषण वास्तवमे अत्यन्त कष्टप्रद कार्य है।

× × ×

कुण्डेश्वरका निर्मल आकाश। रात्रिका समय। चारो ओर सन्नाटा। हम लोग आज 'उषा-विहार' नामक एक स्थलकी खोजमे खूब भटके थे

और बिल्कुल थके हुए थे। मैंने शीलजीसे कहा—"कोई ऐसा गीत सुनाइए, जिससे कुछ ताजगी आवे। वसन्तका आगमन होनेवाला है। कोई वक्तकी चीज लिखी है क्या?"

शीलजीने कहा—"थक तो मैं भी गया हूँ। आपके साथ जगलमें बहुत भटकना पडा। वन्य पशुओंका डर था और रात हो चली थी। जरा सुस्ता लूँ। पहले चायका एक प्याला तो मँगाइए।'

मैंने क्षमा-याचना की। चाय आई और कुछ स्फूर्त्ति भी। शीलजीने गुनगुनाना शुरू किया :—

"एक तारा आसमाँमें झिलमिलाया रात-भर।
चाँदनीने गोदमें उसको खिलाया रात-भर॥"

उस नीरवतामें शीलजीके मधुर स्वरसे निकला हुआ यह गीत व्याप्त हो गया। मैंने कहा —"शीलजी, आप तो उर्दूके ढगपर भी लिखने लगे है !" उन्होने कहा—"नहीं, यों ही एक मुशायरेमे मजाकके तौरपर दो-चार पक्तियाँ लिख दी थी।" मैंने कहा—"पूरा गीत सुनाइए" उन्होंने आगे कहा :—

"जिससे मिलनेकी तमन्ना थी, न मिल पाया था वो।
यों तो अपने दिलका 'इकतारा' मिलाया रात-भर॥
रातकी ख़ामोश घड़ियोंमें हुआ बेचैन दिल।
क्या बताऊँ मैं, मुझे किसने सताया रात-भर॥
शबके पिछले वक्तमें कुछ टूटकर तारे गिरे।
टूटनेसे मैंने दिलको था बचाया रात-भर॥
ओ सितारे, ओसके मिस तू सहरमें रो रहा।
जब कि मैंनें चश्मे दरिया बहाया रात-भर॥
ओ सितारे, देखकर होती सुबह यों खो गया।
गोया मैंने ही तुझे जबरन जगाया रात-भर॥"

मैंने कहा—"कविता-मर्मज्ञ तो मै नही हूँ, पर इतना जरूर कहूँगा कि यह चीज आपने बढ़िया लिखी है। कुछ और भी सुनाइए।"

तत्पश्चात् शीलजीने अपनी 'वसन्त-आवाहन' नामक कविता गाकर सुनाई। उसे हम यहाँ छाप रहे है :

"गानेको गाते हैं गायन, नूतन वसत आवाहन में !
पर प्रकृति-सदृश उल्लास कहाँ, हो सकता बन्दी-जन-मन में ?

इन द्रुम-वल्लरियों की कतार,
हरिताभायुत अवयव-सँवार,
पथ पर झुक झूम—झूम जाती,
करती ऋतुपति प्रेमाभिसार,

तरु पतिकाये बँधती सुख से, प्रेमी तरुके आलिंगनमें।
पर बेबस मानव जकड़ा है, हा! पराधीनता बन्धनमें।

ऋतु-पति ने जब अँगड़ाई ली,
सुरभित समीर सरसाई ही,
बौरोंकी वायु बही ज्यो ही,
तो महक उठी अमराई भी।

कोकिलके स्वर कूजे होगे, कुछ दूर कही निर्जन वनमें।
उसका सुख कैसे मानें हम, निज परवशता में, क्रन्दनमें॥

हो आज एकता का विकास,
बालारुण-रविका-सा प्रकाश,
उर कमल-दलोंके पलक खोल,
भर दे परिमलका-सा सुहास।

तब प्रकृति-पुरुषकी समता कुछ, पाई जा सकती जीवन में।
जब स्वतंत्रताका सुख-सौरभ बिखरे भारतके कण-कण में।
गाने को गाते हैं गायन, नूतन बसंत आवाहन में।
पर प्रकृति-सदृश उल्लास कहाँ, हो सकता बन्दी-जन-मन में?"

तत्पश्चात् मैने फिर कहा—"इसमे तो निराशावादकी कुछ झलक-सी आ गई है। कोई आशाप्रद चीज भी सुनाइए।"

तब शीलजीने निम्नलिखित गीत सुनाया:—

"मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ।
आज मेरी भावनाओको भले ही जग न जाने।
बात अन्तरसे उठी जो, वह भले ही जग न माने॥
किन्तु प्रकृति प्रयाससे होते हरे हैं शुष्क तरुवर।
और मृदु-मधुवातसे खिलते नये है पुष्प सुन्दर॥
मै पुरातनको सदा अभिनव बनाना चाहता हूँ।
मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥
व्यर्थ चिन्ता-घन घुमडकर मन-गगनपर छा रहे हैं।
साथ कितने ही प्रबल तूफ़ान बढते आ रहे हैं॥
किन्तु उर-सागर गहन-गम्भीर है निर्भय रहेगा।
यदि हिलोरें आ गईं तो गर्वसे जगसे कहेगा:
मै उदासीको सदा उत्सव बनाना चाहता हूँ।
मै असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥
हो नया उल्लास उरमें नव उमंगोंकी झलक हो।
खुल रहा नवयुग नयनका आज उन्मीलित पलक हो॥
आज नूतनता निरखकर ही प्रफुल्लित प्राण होगे।
और वसुधापर सुधाके हेतु नवनिर्माण होंगे॥
क्रन्दनोंको मैं सदा कलरव बनाना चाहता हूँ।
मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥

मैने शीलजीसे कहा—"अब आपसे दो प्रार्थनाएँ है..."

शीलजीने टोककर कहा—"आज्ञा दीजिये, आपको तो आज्ञा देनेका अधिकार है।"

"अच्छा, तो मेरा यह अनुरोध है कि एक तो आप सुन्दर अक्षरोंमें मेरे संग्रहालयके लिए इन तीनो कविताओंको एक रजिस्टरमे लिख दे और दूसरा यह कि अपने समस्त गीतोंका सग्रह करके मुझे दे दे।"

शीलजी हँसकर बोले—"आपने तो एक साथ इतना भार डाल दिया। मेरे-जैसे मनमौजी आदमीसे आपने बेजा उम्मीद की है। मेरे अक्षरोंकी तो आपको सदा शिकायत ही रही है। सुन्दर कैसे लिख सकूँगा? और गीत यों-ही बिखरे पड़े है। उन्हे कहाँ-कहाँसे समेटूँगा?"

मैने कहा—"तब मै आपको हुक्म देता हूँ कि ये दोनों काम कीजिए।"

शीलजी खूब हँसे और बोले—"हाँ, अब आपने अपने अधिकारका ठीक प्रयोग किया है! आज्ञा शिरोधार्य है।"

दूसरे दिन शीलजीने तीनों कविताएँ अपने हाथसे लिख दी। मैने उनसे कहा था—"आपके गीत-सग्रहमें एक कविताका ब्लाक छापूँगा, इसलिए उसे लाल स्याहीसे लिखिए। ब्लाक लाल स्याहीके अक्षरोंका ठीक बनता है।" उन्होंने यही किया। गीत-संग्रह करके उन्होने भेजनेका वचन भी दिया, पर वे उस वचनका पालन न कर सके। यद्यपि संग्रह उन्होंने कर लिया था, पर वे मुझे भेज नही सके।

× × ×

शीलजी तीन बार कुण्डेश्वर पधार चुके थे और मुझे इस बातका आजीवन दुःख रहेगा कि मैं चौथी बार उनको न बुला सका—यद्यपि इसके लिए उन्होंने दो-तीन बार, अनुमति भी माँगी थी! बात यह हुई थी कि शीलजीके पागल हो जानेकी खबर उड चुकी थी और कई जगहसे उनकी विक्षिप्तताके समाचार यहाँ पहुँच चुके थे। उनकी तत्कालीन मनोदशामे उन्हें यहाँ निमन्त्रण देनेका साहस मैं न कर सका। उनके लिए मैं बहुत चिन्तित था; पर जब मैं अमर शहीद आजादकी पूज्य माता-

जीके दर्शनार्थ झाँसी गया, तो उन्हें मैंने चित्तकी स्वस्थ अवस्थामें ही पाया। उससे मुझे आश्चर्यमय हर्ष हुआ। वास्तविक बात क्या थी, उसका ब्यौरा शीलजीने अपने अन्तिम पत्रमे, जो आत्मघातके कुछ घटे पूर्व लिखा गया था, विस्तार-पूर्वक लिखा था। उनके शब्द ये है :—

"संसारपर पूँजीके आधिपत्यसे मै इतना डरा हुआ हूँ कि अपनी भावनाओंको व्यक्त करनेके लिए साधनोका जुटाना बिल्कुल आसान नहीं समझता। देशभक्ति आदि नवनिर्माण करनेमे है और उस नवनिर्माणमे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षमे पूँजीपतियोके हाथ और भी मजबूत होते है, इसलिए यह कार्य करनेमे भी मै अपने-आपको असमर्थ पाता हूँ। (अपने परिवारके लिए मै इसलिए कामका नही हूँ कि इस महँगाईके जमानेमे एम्प्लायमेण्ट एक्सचेंज मेरे लिए ४०)-५०) की नौकरी बताता है!) जिस व्यक्तिकी भावना यह हो कि समस्त संसारके बच्चे स्वास्थ्य-वर्धक खाद्य, पेय और शिक्षाके अधिकारी हों, उसके ही सामने उसके बच्चे सूखी रोटी खाकर निराहार बने, भूखे रहें, वह अपने जीवनको कैसे सफल मान सकता है? समाजको छोडकर व्यक्तिगत सुख मेरे लिए कोई उम्मीद नहीं रखता, इसलिए मै अपने जीवनको व्यर्थ माननेके लिए बाध्य हूँ। अब मेरे सामने प्रश्न यह है कि इस व्यर्थ जीवनको सुरक्षित क्यों रखूँ? जिस जीवनमें कोई आकर्षण नही, उसकी गाडी लस्टम-पस्टम रूपमे घसीटते रहनेमे मै कोई शान नहीं समझता और निरन्तर चिन्तन करते रहनेके पश्चात् मुझे इस निष्कर्षपर पहुँचना पडा है कि नित्य-नित्य घुटकर मरनेकी अपेक्षा एक बारमे ही अपने-आपको समाप्त कर देना अधिक श्रेयस्कर है.."

एक सालके हृदय-मथनके बाद शीलजी इस भयकर परिणामपर पहुँचे थे। और उस वर्ष-भरमे उनको जिन वेदनाओंको सहन करना

पड़ा, उनका कुछ-कुछ आभास उनके पत्रोंसे मिल सकता है। 'स्वतन्त्र'से अलग किये जानेपर उन्होंने एक बडी जबरदस्त भूल की थी, वह थी अपनेको पागल प्रसिद्ध करनेके लिए पागलपनका स्वाँग, और अपने अन्तिम पत्रमे उन्होंने इस 'नाटकीय प्रदर्शन'का ज़िक्र भी किया था। वस्तुतः शीलजी विवेक खो बैठे थे और उसके मूलमे उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। उनके कुछ पत्रोंके अश सुन लीजिए—

"मनको बहुत मनाता-समझाता हूँ, पर विचारोंका ताँता टूटता ही नहीं। तीन महीनेसे बीमारी और बेकारीमें पड़ा हूँ। धनियाँ, पालक आदि तो शहरोंमे बहुत महँगे मिलते हैं। ऋण हो चुका है, आमदनीका कोई ज़रिया नहीं है। और ऋण करना नहीं चाहता। फिर भी कहींसे पैसे मिल जाते है, तो हरी भाजियोंमें ही खर्च करता हूँ। सिगरेट बिल्कुल छोड दी है। बीडीपर गुज़र करता हूँ। अभी कुछ दिनो भीख माँगकर काम चलाया। उससे बडी आत्म-ग्लानि हुई। कुछ दिन हुए...... जी १५) दे गये थे। उसीसे आटे और घीका काम चलाया, लेकिन ऐसे आखिर कब तक चलेगा? यही सोचकर मनमे निराशा बढ़ जाती है और तबीयत सुधरनेके बजाय उल्टी बिगड जाती है। जितना अपना निर्माण किया, उससे अधिक मेरा नाश हो चुका है। कृत्रिम हँसी हँसकर लोगोंसे बाते कर लेता हूँ। हरएकके सामने अपना रोना रोया भी तो नहीं जा सकता। **प्रामाणिक श्रमसे अर्जित अन्न ही मुझे अच्छा कर सकता है।**"

अन्तिम वाक्य शीलजीने लाल स्याहीसे लिखा था। निस्सन्देह शीलजी जिस परिणामपर पहुँचे थे—यह वाक्य-रत्न चार महीनेके अन्तर्द्वन्द्व और हृदय-मन्थनके बाद उनके हाथ लगा था—वह प्रत्येक बुद्धिजीवीके लिए हृदयंगम करनेकी चीज़ है। **प्रामाणिक श्रमसे अन्न किस प्रकार अर्जित किया जाय?** यही प्रश्न हम सबके सामने उपस्थित है। शीलजीने अपनी

शक्तिके अनुसार उसे हल करनेका प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे। तदर्थ वे हमारी आलोचनाके नहीं, करुणाके ही पात्र हैं।

इस बीचमें मैं उन्हें बराबर हिम्मत बँधाता रहा और परामर्श भी देता रहा। गीत-सग्रहके बारेमें मैंने तकाजा किया, तो उन्होंने लिखा—"गीत-संग्रहके लिए अभी तो लिखा-पढ़ी नहीं की है और प्रकाशक तो आजकल केवल इतना advance देते हैं, जिससे मुश्किलसे महीने-दो-महीनेका काम चल सकता है।"

एक पत्रको उन्होंने अपना गीत भेजा, उसने दस रुपये पारिश्रमिकके भेज दिये, पर दूसरा गीत वहाँसे अस्वीकृत होकर लौट आया। एक अन्य पत्रमें शीलजीने लिखा था—"मनके विपरीत तो मुझसे कोई कार्य न हो सकेगा। भले ही मुझे भूखों मर जाना पड़े। कम-से-कम आगे आने-वालोंके लिए दृढ़ताका कुछ तो उदाहरण बन ही जायगा। गीत आपको भेज चुका हूँ—'मेरे बाद जहाँमे मेरा कुछ तो नाम-निशान रहेगा'। गाधी-अङ्कके लिए मुक्तवृत्तमे भी एक रचना भेज रहा हूँ। . ..पत्रने कल दस रुपयेका मनीआर्डर भेज दिया है। उससे दिवाली मन जायगी। मेरा विश्वास है कि कलम चलती रही और मै समूहकी सेवा करता रहा, तो शायद रोटियोंकी कमी न पड़ेगी। देखिए, क्या होता है!"

इस प्रकार वे आशा तथा निराशाके झूलेमे झूलते रहे। एक अन्य पत्रमे लिखा था—"लिखना बहुत चाहता हूँ, पर काग़ज-क़लमके प्रबन्ध की बात तो दूर रही, पोस्ट करनेका प्रबन्ध नहीं है। पता नहीं, यह पत्र आपके कर-कमलोंमें पैसेके अभावसे कब समर्पित कर सकूँगा।"

सूचना-विभाग और रेडियोसे कुछ पैसे मिल गये और उससे शीलजीकी हिम्मत बँध गई। जब पैसे चुक गये, तो राशनिंगमें एक अस्थायी कार्य ६३ रु० मासिकपर कर लिया। वह सिर्फ़ दो महीनेके लिए था।

शीलजीने लिखा था—"१५ दिन गुजर चुके है, अब डेढ महीने बाद क्या होगा, कुछ समझमे नही आता। दादाजी! मैं तो समाजकी इस आर्थिक व्यवस्थासे बिल्कुल खीज गया हूँ। जो व्यक्ति एक महीने पहले १७५ रु० पाये, उसीको एक महीने बाद ६३ रु० दिये जायँ! इस झूलेमे मेरा कचूमर निकला जा रहा है। 'निराशा हि परम सुखं'को हृदयस्थ करनेके बाद जो गीत निकला है, उसे 'विन्ध्यवाणी'के लिए भेज रहा हूँ। मेरे लिए कोई योग्य कार्य ढूँढ़नेमें आप मदद कर दे, तो बडी कृपा हो। योग्यं योग्येन युज्यते'। आशा है, पत्रोत्तर मुझे मिल जायगा।"

शीलजीकी वह कविता यहाँ उद्धृत की जाती है :

गरीबोंकी जिन्दगी

"चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए!
अब नहीं बाक़ी जगतमे प्यार है मेरे लिए!

विश्व-उपवनमें मृदुल आया कभी था फूल बन,
पर खटकता आज जगकी दृष्टिमें, मैं शूल बन,
क्योंकि पैसेका पराग न पास मेरे रह गया,
इसलिए मैं रह रहा हूँ आज पगकी धूल बन,

विश्वका बदला हुआ व्यवहार है मेरे लिए!
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए!

हो रहा है शुष्क प्रतिभाका प्रफुल्ल प्रसून अब,
क्योकि भोजन ठीकसे मिलता न दोनों जून अब,
उस दिवसकी कल्पनामें सूखता मैं जा रहा,
जिस दिवस होगा नही उपलब्ध सूखा चून अब,

फिर भला संसारमें क्या सार है मेरे लिए?
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए!

आज आशाके झकोरे भी झुलाते हैं नही,
आज तो सुख-स्वप्न भी दुखको भुलाते हैं नही,
कल्पना-किसलय हुआ (है सूखकर) बेकार अब,
रात्रिके नीरव प्रहर भी तो सुलाते है नही !
आज चारो ओर हाहाकार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !

तितलियोंकी प्यारकी मनुहार छाया हट गई,
फूलता था लख जिसे वह मधुर माया हट गई,
जब हुआ दारिद्र्यका अधिदेवता सम्मुख प्रकट,
वज्र टूटा व्योमकी चादर यकायक फट गई,
अब न छाया है, न कुछ आधार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !

सोचता था काट लूँगा चार दिन हँसकर सदा,
पर अभावोकी घटा बन आ गई है आपदा,
व्यक्तिगत अनुभव बताता (आज कुछ ऐसा) मुझे,
चार दिन भी चाँदनी खिलती नहीं है सर्वदा,
घोर तमका हो रहा विस्तार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !
अब नहीं बाक़ी जगतमें प्यार है मेरे लिए !"

मेरा अक्षम्य अपराध

शीलजीके उक्त पत्रका उत्तर मै दे नहीं सका और कविता भी मै उनके स्वर्गवासके बाद पढ़ पाया। बात यह हुई कि अपने प्रिय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र 'गाधी भवन'पर आये हुए संकटोंसे मैं अत्यन्त उद्विग्न

था और मैने वह कविता पत्रके साथ ही 'विन्ध्यवाणी' सम्पादकको दे दी थी। शीलजीकी रचनाके अस्वीकृत होनेकी तो कल्पना ही नही थी। सोचा था कि छपनेपर पढ लूँगा! वह कविता २०-२२ रोज़ तक नही छप पाई और इस बीचमे शीलजीके आत्मघातका भयङ्कर समाचार आ गया।

गाधी-भवनमें शीलजी

स्वय शीलजी कुण्डेश्वरकी इस संस्था (गांधी-भवन)के लिए अत्यन्त चिन्तित थे, और एक पत्रमे उन्होने लिखा भी था—

"आपके 'बोरिया-बिस्तर बाँध रहा हूँ' को पढ़कर मन बहुत ही खिन्न हो जाता है। एक प्राकृतिक स्थल, जिसका उपयोग हम बडे सुविधा-पूर्वक ढगसे कर लेते थे, अब हमारे लिए नहीं रहा और उससे भी अधिक आप जो हम लोगोके बीच थे, हमारे हितोंके लिए प्रयत्नशील थे, यो ही टीकमगढ क्या पूरे प्रदेशसे 'अभिनिष्क्रमण' करनेके लिए बाध्य हुए है! हम लोगोंकी कमजोरीकी ही बदौलत। यदि हमारा कोई भी बढ़िया संगठन होता, तो हम आपको अपने बीच ही देख सके होते। नास्तिक होनेपर भी मै इसे विधिका विधान ही कहूँगा।"

एक अन्य पत्रमें उन्होने लिखा था—"यह तो हम लोगोकी अकर्मण्यताका ही दुष्परिणाम होगा कि हम गाधी-भवन-जैसे आश्रम और आसपासके तपोवनका विधिवत् संचालन न कर सके। **गांधी भवनकी रक्षाके लिए हम अपने प्राण तक होमनेको तैयार रहेंगे।"**

शीलजीको अपने इस जनपद बुन्देलखण्डसे अत्यन्त प्रेम था और 'ज़नमत'कार्यालय, शाहजहाँपुरसे उन्होंने लिखा था—"अपने प्यारे बुन्देलखण्डको मुझे छोडना पड़ा। खास तौरसे इसलिए कभी-कभी रुलाई आ जाती है कि बुन्देलखण्डमे मुझे रोटी भी न मिल सकी।"

आज मै शीलजीकी स्वर्गीय आत्मासे क्षमा-याचना करता हूँ कि मैं अपनी मजबूरियोके कारण उन्हे कुण्डेश्वरके उस प्राकृतिक स्थलपर फिरसे नही बुला सका, जिसके लिए वे अपने प्राण तक होमनेको तैयार थे।

शीलजीने निराश होकर अपने प्राणोका जिस प्रकार विसर्जन किया, उसकी आलोचना हम नही करना चाहते, पर उनके आत्मघातने जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित किये है, उनकी उपेक्षा करना महान् कायरता होगी। सबसे प्रथम कर्त्तव्य हमारा यही है कि हम साहित्य-सेवी कहलाने-वाले व्यक्ति पारस्परिक सहानुभूति द्वारा एक-दूसरेके अधिकाधिक निकट पहुँचे। जिस पूँजीवादी व्यवस्थाका ज़िक्र बार-बार शीलजीने किया है, उसका मुकाबला व्यक्तिगत ढंगपर नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सजीव साहित्यका कर्त्तव्य है कि वह उस दल अथवा उन दलोंको व्यावहारिक रूपसे भरपूर मदद दे, जो उक्त व्यवस्थाको बदलनेके लिए प्रयत्नशील है। सर्वोदय-सघ, समाजवादी दल और कम्युनिस्ट पार्टी इत्यादिके द्वारा जो प्रयत्न हो रहे है, उनका अध्ययन करना हम सबका कर्त्तव्य है। किन्तु सब लोगोंके लिए एक ही मार्ग ठीक नहीं हो सकता। अपनी रुचि, शक्ति और योग्यताके अनुसार जिसकी अन्तरात्मा जिस मार्गको उचित समझे, वह उसे ग्रहण करे। हाँ, प्राण होमनेका सर्वोत्तम तरीका 'जिन्दा शहीद' बनना है और उसपर महात्मा गाँधीने अनेक बार लिखा था।

हर हालतमे हमे विश्वकी प्रगतिशील शक्तियोके साथ रहना है। वह युग कभीका लद चुका, जब कोई साहित्य-सेवी जन-सग्रामसे अलग रहकर अपने वाग्विलासमे मस्त रहे। हमे प्रतिक्रियावादी ताकतोंसे मोर्चा लेना ही पड़ेगा और एतदर्थ छोटे-मोटे सघोंका निर्माण करना ही होगा। हमे यह आशा छोड देनी चाहिए कि सरकारसे या साधन-सम्पन्न व्यक्तियोसे हमे कुछ सहायता मिलेगी। हाँ, समानशील बन्धुओंकी सहानुभूति हमें

अवश्य मिलनी चाहिए। फिर भी हम सबको अपने खर्च घटाकर स्वावलम्बी बनना है। किसीका भी मुँह नहीं ताकना है।

"प्रामाणिक श्रमसे अर्जित अन्न ही मुझे अच्छा कर सकता है"— शीलजीका यह वाक्य हम सबके लिए पथ-प्रदर्शक है और यदि हमने इस सत्यको हृदयंगम कर लिया, तो पूँजीवादसे भयभीत तथा त्रस्त होकर किया हुआ उनका यह बलिदान निरर्थक न जायगा। क्या हम भावी जीवन-सघर्षके लिए तैयार हैं? हिन्दीके एक उदीयमान कविका आत्मघात हमारे सामने एक प्रश्नसूचक चिह्नके रूपमे उपस्थित है।

नवम्बर १९४९]

स्वर्गीय साधकजी

प्रातःकालकी चाय पीकर अभी लेटा ही था, और मानसिक तथा आध्यात्मिक शराब पिलानेवाले एमर्सनके निबन्ध हाथमे लिये ही थे कि नौकरने आकर कहा, "पंडितजी, कोई आदमी आपसे मिलना चाहते है।" बडी झुँझलाहट हुई। समझा कि किसी वक्त खराब करनेवालेने यह बेवक्त आक्रमण किया है! बाहर आना ही पडा।

"आइए, पधारिए।" मैंने शिष्टाचारवश कहा।

"क्षमा कीजिए, मैंने आपको कष्ट दिया। मेरा नाम सीताराम साधक है।"

"अच्छा साधकजी! आपकी रचनाएँ तो मैंने 'विशाल-भारत'मे छापी थी।"

"हॉ, दो-एक तुकबन्दियाँ मैंने भेजी तो थी।"

तत्पश्चात् साधकजीसे तीन घटे साहित्यिक विषयोपर वार्तालाप हुआ। साधकजीकी विनम्रता तथा संकोचशीलताने मुझे मुग्ध कर दिया। इस तीन घटेके बीचमें उन्होंने अपने विषयमे एक भी बात नही कही, न अपनी साहित्यिक सेवा या कविताओंका जिक्र किया, और न अपनी कठिनाइयोका। मैने भी समझ लिया कि जिस प्रकार मुझे श्रीमान् ओरछेशकी संरक्षकतामे समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, शायद साधकजी भी उसी प्रकार श्रीमान् ग्वालियर नरेशके आश्रयमे पूर्णतया सुखी होंगे।

मै जानता था कि साधकजी ग्वालियर रहते है। फिर भी मै धृष्टतापूर्वक पूछ बैठा, "कहिए, आजकल क्या शग़ल रहता है?"

"यही मजदरी करके पेट पालन कर लेता हूँ।"

मैंने कहा, "मज़दूरी ! यह बात तो समझमे नहीं आई। साफ-साफ कहिए।"

तब मुझे साधकजीने बतलाया कि वे १० आने ८ पाई रोजपर मुरारकी पब्लिक लाइब्रेरीमे काम कर रहे है। पाँच प्राणी है, स्वयं, पत्नी, वृद्ध माता-पिता और सालभरकी एक बच्ची।

साहित्यिक आदमी, दस आने आठ पाई, और पाँच प्राणी! जमीन मेरे पैरोसे खिसकने लगी, और दिमाग कुछ चकराया। चूँकि मेरे पूज्य पिताजीने औसतन ६ आने रोजपर पचास वर्ष तक ग्राम-स्कूलोंकी मुदर्रिसी की है (और मेरे सौभाग्यसे वे अब भी जीवित हैं) मुझे साधकजीकी परिस्थिति समझनेमे देर न लगी। श्रद्धासे मेरा मस्तक उस मजदूर साहित्य-सेवीके सम्मुख झुक गया। तब मै साधकजीकी निम्नलिखित सुन्दर कविताका अर्थ समझ सका, जो 'निकुज'मे प्रकाशित हुई थी।

अतीतकी स्मृति

"जो तारे झिलमिल झिलमिल कर
देखा करते थे सपने,
जिन्हे देखकर मेरी भी, सखि,
पलकें लगती थीं झँपने,
वह भी कहाँ रहे अपने!

वह मधु ऋतुकी मादक सन्ध्या,
वह चाँदी-सी उजली रात,
वह किरणोका जाल मनोहर,
वह सोनेका मधुर प्रभात,
जाने कहाँ गये अज्ञात!

सुन विहँगोंकी मधुर प्रभाती,
निरख उषाकी मृदु लाली,
जो मालिन ले जाती थी—
कुसुमोंसे भर-भरकर थाली,
आज खडी है वह ख़ाली !

जिसे कभी मधुके प्यासे अलि,
कुसुमोंके प्यालोंसे पी,
मरते-मरते एक बार
नव जीवन पा उठते थे जी,
ढुलक गई वह मदिरा भी !

वह पत्रोंकी मर्मर ध्वनि, सखि,
वह कोयलका पंचम स्वर,
कल-कल स्वरसे बहता रहता,
था जो सूनेमें निर्झर,
बन्द हुआ उसका भी स्वर !

क्या न कभी आकर कूकेगी—
फिरसे कोयलिया काली ?
क्या न कभी फिरसे आयेगी,
उपवनमें जीवन-लाली ?
कौन जानता है आली !"

'निकुंज'के संग्रहकर्ताने साधकजीके विषयमे लिखा था, "आपका कुटुम्ब उस श्रेणीमे आता है, जिसे आधुनिक समाज-शास्त्रज्ञ प्रोलितेरियन या श्रमजीवी कहते हैं, और जिसके लिए साहित्य, कला, विज्ञान, सबके द्वार बन्द हैं।. आप शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिए श्रम करते

है, मानसिक उन्नतिके लिए स्वाध्याय और हृदयका मधुर भार उतारनेके लिए कविता भी।"

साधकजीकी अनेक रचनाओंमे जो टीस पाई जाती है उसके स्रोतका मुझे पता उस दिन लगा।

श्रीयुत साधकजीने टीकमगढमे कुछ दिन क्लर्कीका काम किया था, और यहाँके प्राकृतिक सौन्दर्यपर वे मुग्ध थे। बातचीतके सिलसिलेमें उन्होने बडे सकोचके साथ कहा कि टीकमगढमे उनकी ससुराल है और यहाँके विषयमे उन्होने एक तुकबन्दी भी की है। मैने कहा, "हाँ, तब तो अपनी ससुरालके सौन्दर्यपर अपनी कविता जरूर भेजिए।" आज साधक-जीके स्वर्गवासके बाद उस कविताको उद्धृत करते हुए चित्तको बडा खेद हो रहा है।

टीकमगढकी स्मृतिमें

[१]

वे सुन्दर सुरभित सरस फूल!
रे कैसे जाऊँ उन्हे भूल?
अलि तन्मय गुंजन भूल-भूल!
वे दृश्य देख इस उरमें था—
लहराता रस-मानस अकूल,
वे सुन्दर सुरभित सरस फूल!

[२]

वे लहराते सागरसे सर!
वे लहरें थीं कितनी सुखकर!
मैं जिन्हें देखता था दिनभर,
रे खेल-खेल उन लहरोंसे—

मैं श्रान्त न होता था क्षणभर,
वे लहराते सागरसे सर ?

[३]

वे बहते चाँदीसे निर्झर !
रुकते थे जो न कभी पलभर,
जिनकी इच्छा न कहीं निर्भर
पी जल जिनका अंजलि भर-भर—
कवि-जीवन मेरा हुआ अमर !
वे गंगासे निर्मल निर्झर !

[४]

वह ताल किनारेका पनघट !
आतीं कुलबधुएँ भरने घट,
अध-खुले चकित झिलमिल घूँघट
उनके पद-नूपुरका रुनझुन,
भरता रससे मन-घट सुन-सुन,
वह पावन प्रेम-तीर्थ-पनघट !

[५]

वह आम्र घटा काली-काली,
जिसमें छिप कोयल मतवाली,
दिनभर गाती मधुकी आली,
सुन-सुनकर जिसकी मधुर कूक—
दिल हो जाता था टूक-टूक,
उठती प्राणोंमें एक हूक !

[६]

वन, उपवन, कोयल, भ्रमर, फूल,
निर्झर, सर, सरिताका सुकूल,
हरियालीका फैला दुकूल,
वह छवि उरमे है रही झूल,
कैसे रे उसको सकूँ भूल ?
स्मृति बनी हृदयका मधुर शूल !

[७]

रे टीकमगढकी मधुर याद !
जब आ जाती है कभी याद,
यह सत्य बात है निर्विवाद,
बहता नयनोंसे विमल नीर,
मै किसे दिखाऊँ हृदय चीर,
व्याकुल उरकी रे अकथ पीर !

इसमे साधकजीने टीकमगढके प्राकृतिक सौन्दर्यका जो वर्णन किया है, वह कोरमकोर कवि-कल्पना नही है। यहाँके सुन्दर सरोवर, कुण्डेश्वरके जल-प्रपात तथा निकटस्थ वन-उपवनोंकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोडी होगी।

श्रीयुत साधकजीसे मेरा पत्र-व्यवहार होने लगा। अपने २३ जनवरी सन् १६३८के पत्रमे उन्होने लिखा था—

"वसन्त-व्याख्यान-मालाकी चर्चा मैं मित्र-मंडली तथा साहित्यिक बन्धुओंसे बराबर कर रहा हूँ। आपके पत्रके मिलते ही मै 'जयाजी-प्रताप' कार्यालयमें गया था और श्रीवास्तवजी आदिसे मिला था। उनसे ईस विषयमें काफी समय तक विचार-विनिमय होता रहा। मैंने उनसे व्याख्यान-

दाताओंकी आर्थिक समस्याके सम्बन्धमे प्रश्न किया था, तो उन्होंने कहा, "यह समस्या कोई बडी समस्या नही, यह तो शीघ्र ही हल हो जायगी।" वसन्त-व्याख्यान-मालाका आयोजन भी वे इसी वर्षसे प्रारम्भ करना चाहते है।"

दूसरी बार जब साधकजी टीकमगढ पधारे (यह थोड़े ही दिनोंकी बात है) तब दो-तीन घटेके लिए फिर मेरे निवास-स्थानपर आये और फिर साहित्यिक विषयोपर बातचीत हुई। अबकी बार उन्होंने मुझे यह खुशखबरी सुनाई कि उन्हें पुस्तकालयसे पॉच रुपये मासिक साइकिलके भत्तेके मिलने लगे हैं।

मेरी हार्दिक इच्छा थी कि श्रीयुत साधकजी टीकमगढ वापस आ जावे, और उनके लिए मैंने कार्य भी खोज लिया था। एक चिट्ठी मैंने उन्हे भेजी जिसमे मैंने मजाकमे लिखा था, कि टीकमगढमे ढाई तीन दिन ठहरने पर भी आपने मुझे दो तीन घण्टे ही दिये, इससे यह प्रमाणित होता है कि आप साहित्य-सेवासे ससुरालको अधिक महत्त्व देने लगे है, इत्यादि न जाने क्या-क्या ऊटपटाग बाते मैने लिख भेजी थी। इस चिट्ठीके उत्तरमे श्रीमान् मिलिंदजीका पत्र आया कि श्री साधकजीका तो अस्पतालमे स्वर्गवास हो गया, आपकी चिट्ठी उन्हे नही मिल सकी, वापिस भेजी जाती है!

पत्र पाते ही ऑखोंमें ऑसू आ गये। साधकजी चले गये और अपनी साहित्यिक साधनाके अरमान भी साथ ही लेते गये। उनकी स्मृतिमे लिखी गई किसी पत्रकी एक भी पक्ति मेरे देखनेमे नहीं आई। हॉ, केवल जयाजीप्रतापमे साधकजीके स्वर्गवासका समाचार ता० ३० नवम्बर १६३६के अकमे पृष्ठ १०पर प्रकाशित हुआ था। किसीने उन्हें याद नही किया और इस विज्ञापनके युगमे विज्ञापनसे दूर भागनेवाले किसी साहित्यिकको भला कौन याद करेगा? सुना है कि अपनी कविताओंके

संग्रहको छपानेकी उनकी इच्छा थी। वह भी उनके साथ गई। और कविताएँ? उन्हे कौन पूछता है? युग-प्रवर्तक कवियोके जमघटमे भला उस संकोचशील साधकको कहाँ स्थान मिल सकता है? जहाँ रुपयोसे और बैंकके मोटे हिसाबसे आदमीकी योग्यताका अन्दाज लगाया जाता हो, वहाँ उस मजदूर, दस आने आठ पाई रोज पानेवाले श्रमजीवीका दर्जा हो ही क्या सकता है?

वस्तुतः साधकजी उन सैकडो-हजारो मज़दूर लेखकोंके प्रतिनिधि-स्वरूप थे, जो इस स्वार्थी हिन्दी ससारमे चुपचाप आते और अपनी आकाक्षाओंको हृदयमे दबाये हुए चुपचाप चले जाते है। पर अन्तरात्मामे एक प्रश्न उठता है, "क्या हमारे जैसे विज्ञापित आरामतलब साहित्य-सेवी, जिनके लिए साहित्य-सेवा एक 'शगल' ही है, उन साधकोकी चरणरज लेनेके भी अधिकारी है?"

अन्तरात्माके इस क्षोभकर प्रश्नको जबरदस्ती दबानेके लिए मेरे बुर्जुआ मनने नौकरसे चार प्याले चाय बनाने और बढिया बिस्कुट लानेके लिए ऑर्डर दे दिया। फिर भी विद्रोही आत्मा सर्वदाके लिए मौन उस 'साधक' के चरणोंमे, चाहे वह किसी भी लोकमे हो, चार आँसुओकी यह श्रद्धाजलि भेट करनेके लिए उतावली है।

आज़ादकी माताजी

"माताजी आ गई ! चलो, उनका स्वागत कर लें।" यह सुनते ही जल्दीसे हाथ-मुँह धोकर घरसे बाहर आया और पूज्य माताजीके चरण-स्पर्श किये। उनके साथ आज़ादके पुराने सहयोगी मास्टर रुद्र-नारायणजी तथा बन्धुवर भगवानदासजी माहौरके भी दर्शन हुए। मानो घर बैठे तीर्थ आ गये हों ! वह दिन हमारे लिए चिरस्मरणीय रहेगा। पर श्रद्धेय माताजीका यह शुभागमन कोई आकस्मिक घटना न थी।

दस वर्ष पहलेकी बात है। जिस दिन हमने 'विप्लव' में श्री वैशम्पा-यनजी द्वारा लिखित आज़ादके जन्मस्थानकी तीर्थयात्राका वृत्तान्त पढा था और उस झोपडीके तथा माताजीके चित्रोंको देखा था, हमारी आँखें डबडबा आई थीं और हमने यही कहा था—"यदि हमलोग अलफ्रेड-पार्क प्रयागसे (जहाँ आजाद शहीद हुए थे) भाबरा (अलीराजपुर) तककी पैदल यात्रा करके माताजीके चरण-स्पर्श करें, तो शायद हम आज़ादको सच्ची श्रद्धाञ्जलि देनेके कुछ अधिकारी बन सकते हैं।"

पर अपने बहुधन्धीपन तथा प्रमादके कारण हम पैदल तो क्या रेल द्वारा भी भाबरा न पहुँच सके ! और वह ७०-७५ वर्षकी वृद्धा आज हमारे यहाँ स्वयं ही आ पहुँची थी। माताजीने चार दिनतक इस भूमिको पवित्र किया और उन चार दिनोंमें हमने समझा कि इस साधनहीन भोली-भाली बुढ़ियाके हम कितने ऋणी हैं।

माताजी पुराने विचारोंकी हैं। आते ही वे लड़कियोंसे इस प्रकार मिलीं-भेटीं, मानो वे चिरपरिचित हों और अपने घरमें ही आ रही हों। दो दिनोंमें ही माताजी इतनी घुल-मिल गईं कि लडकियोंको उचित आदेश

भी देने लगी। पुत्री देवकीसे बोली—"भोजन करनेके बाद तुम हमारे पास क्यो नही बैठी?" लडकीने सकपकाकर उत्तर दिया—"माताजी, हमे नीद लगी थी, सो दूसरे कमरे मे जाकर सो गई।" माताजीने कहा—"नही, तुम्हे हमारे पास आना ही चाहिए था। हमारा हुकुम मानो।"

दरअसल माताजीमे वात्सल्यकी अतृप्त भावना प्रबल मात्रामे विद्यमान है। जिस बुढियाके पॉच बच्चे एकके-बाद-एक चल बसे हो, उसके मनमे यह भावना आना सर्वथा स्वाभाविक है कि कोई तो हमारी बात बच्चोकी तरह सुने, किसीपर तो हम प्रेमपूर्ण 'हुकुम' चला सके! आज़ादको शहीद हुए अठारह वर्ष हो चुके और उनके पिता पण्डित सीतारामजी तिवारी भी ग्यारह वर्ष पहले चल बसे। भाबरा ग्राममे एक कोनेपर भीलोंके बीच एक झोंपडीमे माताजी अपने वैधव्यके ग्यारह वर्ष बिल्कुल एकान्तमे काटती रही हैं। ब्राह्मणके सिवाय किसी दूसरेके हाथका बना कच्चा भोजन वे कर नही सकती और ब्राह्मण-कुटुम्ब उस ग्राम-भरमे शायद एक ही है। तीन-चौथाई बस्ती मुसलमानों और भीलोकी है। पैसेकी कहीसे आमदनी नहीं। कहीसे कुछ मिल गया, तो दोनो वक्तका भोजन एक वक्त बनाकर रख लिया। कोंदो और दाल ही उनका खाद्य रहा है। और वह कभी-कभी बासी ही खाती रही है। गरीबीमे कौन किसको पूछता है? भला हो आजादके साथियोका, जिन्होंने माताजीकी एकाध बार खोज-खबर तो ली! पर वे सब स्वयं अत्यन्त साधनहीन और व्यस्त रहे हैं। अतएव माताजीके जीवनके पिछले ग्यारह वर्ष घोर सकटमे ही बीते है और यह बात हम सबके लिए अत्यन्त लज्जाजनक है।

पर दूसरोंको दोष न देकर हम स्वय अपनेको ही अपराधी मानते हैं। यदि हम वैशम्पायनजीका लेख पढनेके बाद तुरन्त भाबरा चले गये होते, तो शायद कुछ-न-कुछ सेवा उनकी हो ही जाती। पर हम सोचते-विचारते ही रहे और यह आवश्यक कर्त्तव्य हमसे न बन पडा।

माताजीके दर्शन करते समय हमे खयाल आया कि आज भी देशमे सैकडो शहीदोंके निराश्रित कुटुम्ब सहानुभूतिके दो शब्दोके भूखे है। आज भी वे प्रतीक्षा कर रहे है कि कोई कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे दो-चार बाते उनके स्वर्गीय प्राणीके विषयमे सुनावे, उन्हें कुछ सान्त्वना दे, उनकी कुछ सुने, उन्हें आँसू बहानेका कुछ मौका दे।

माताजी अपने बच्चे चन्द्रशेखरकी बाते किसीको सुनाना चाहती थीं—अमर शहीद आजादको वे तब भी नही समझ सकी थी, आज भी नही समझ पाती। वे तो उसी चन्द्रशेखरको जानती है, जो उनके पेटमे नौ महीने रहा था, जो बर्फ़ीका बडा प्रेमी था, जो उनसे झगड-झगडकर पैसा लिया करता था और जो पिताजीसे (तिवारीजीसे) बोलता भी न था।

माताजी लडकियोको अपनी बातें सुनाती और आजादका जिक्र करते ही उनका गला भर आता और वे फूट-फूटकर रोने लगतीं। माताजीने कहा—"बेटा चन्द्रशेखर जब पैदा हुआ था, तब कमजोर-सा था। हमारे यहाँ गाय-भैंस तो थी, पर वे दूध बहुत थोडा देती थी, इसलिए दूध हम घीके लिए जमा देती थी और थोडे-से दूधमे बहुत-सा साबूदाना मिलाकर खीर बना देती थी और दिनमे कई बार वही खीर बच्चे(चन्द्रशेखर)को दिया करती थी। ज्यादा दूध हमारे यहाँ होता ही न था, पर बच्चा साबूदाना खा-खाकर ही खूब मोटा-ताजा बन गया। पास-पडोसकी स्त्रियाँ कहने लगी—"बच्चा तो बहुत सुन्दर लगता है।" कहीं उनकी नजर न लग जाय, इसलिए चन्द्रशेखरके काजल लगाकर उसके माथेपर डिठौना लगा दिया करती थी। बच्चा खूब तन्दुरुस्त हो गया था। हाय! क्या मैंने उसे इतनी फिकिरसे इसलिए पाला-पोसा था कि वह किसी दिन गोलीसे मारा जाय।" इतना कहते-कहते माताजीका गला भर आया और फिर उनके आँसू रुकते ही न थे! लडकियाँ भी विह्वल हो गईं! उन आँसुओंको पोंछनेकी शक्ति भला किसमे है?

फिर माताजी सुनाने लगी—"चन्द्रशेखर अपने पिताजीसे ज्यादा नहीं बोलता था। जो-कुछ उसे लेना होता, मुझसे ही लेता था, और मैं भी उसके पिताजीके पैसोकी चोरी करके उसे दे दिया करती थी। जब वह बाहर चला गया था तब भी चिट्ठी मेरे पास भिजवाकर रुपये मँगाया करता था और मै तिवारीजीकी चोरीसे उसे दो-चार रुपये भेज ही देती थी! बच्चेके लिए मैने बापकी चोरी की।" ऐसा कहते-कहते माताजी फिर रोने लगीं। जब चोरीका पता चल जाता, तो तिवारीजी नाराज होकर कहते—"तुम्हीने लडकेकी आदत खराब कर दी है।"

शहीद आजादके पूज्य पिता पण्डित सीताराम तिवारी बग़ीचेकी रखवाली करते थे और उनका वेतन था पॉच रुपये महीना! पर वह बुड्ढा अजीब आनबानका आदमी था। क्या मजाल कि कोई आदमी एक कच्चा आम भी बाग़से ले जाय! खुद तो कभी लेनेसे रहे! एक बार स्थानीय तहसीलदार साहबने बग़ीचेसे छॉटकर बढ़िया बैगन अपने घरके लिए मँगाये, तो तिवारीजीने बगीचेकी ताली ही उन्हें वापिस भेज दी और कहला दिया कि यह बेईमानी हमसे न होगी! अच्छे बैगन आप छॉट लेंगे, तो बाजारोमे बाकीका भाव गिर जायगा। रियासतको घाटा रहेगा। मुझसे यह पाप न होगा। आप ही बग़ीचा सम्हालिये! तहसीलदार साहब घबरा गये। उन्होंने ताली तिवारीजीको लौटा दी।

मास्टर रुद्रनारायणजीने यह घटना हमे सुनाई और कहा—"जब वह बुड्ढा बड़े स्वाभिमानसे कहता—'इस तिवारीने छदामके लिए भी किसीका अहसान नहीं लिया', तो उनका चेहरा गौरवकी अनुभूतिसे लाल हो जाता था।"

और जिस समय चन्द्रशेखर आज़ाद कहते थे—"पार्टीसे हमें कुल छै पैसे भोजनके लिए मिलते हैं। इतनेमे पेट नहीं भरता, पर क्या किया जाय? ज्यादा पैसे हमारे पास है ही नही। हमारे कुछ साथी डबलरोटी

ओर मक्खन क्यो खाना चाहते है, समझमे नहीं आता।" उस समय तिवारीजीकी स्वाभिमानी आत्मा ही उनके आत्मज आज़ादमे बोलती थी।

हमारे निकटस्थ वनके रक्षक भगवानदास (मिठई) की आज़ादके साथ ओरछेके जंगलमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मिठईने माताजीसे कहा—"माताजी, आपकी भेजी हुई बर्फी हमने भी खाई थी। उसमे इलायची पडी थी।"

सुनते ही माताजीने कहा—"हाँ, हमारे बच्चेको बर्फी अच्छी लगती थी और जब वह भाबरा आया था तब हमने बर्फी बनाकर उसको दी थी। उसके बाद बच्चेको फिर नही देखा। वही आखिरी मिलन था।"

माताजीकी अश्रु-धारा फिर बहने लगी। आजादकी जीवित अवस्था-मे जब मास्टर रुद्रनारायणजी भाबरा गये थे, तो चलते समय माताजीने ज़बरदस्ती एक रुपया उनकी लडकीके लिए दिया था और एक अठन्नी यह कहकर दी थी कि "इसकी बर्फी लेकर बेटा चन्द्रशेखरको खिला देना। मेरे बच्चेको बर्फी बहुत भाती है।"

आजादने भारतकी स्वाधीनताके लिए क्या-क्या वीरतापूर्ण कार्य किये, इसका पता माताजीको अभी तक नही है। कोई आजादकी बाते करता है, तो माताजी चुप-छिपकर उसे सुन लेती है और फिर बीमार पड जाती है। उनके हृदयके घाव ताजे हो जाते हैं, उन्हें ज्वर हो आता है और वे खाना-पीना छोड देती है। यही नहीं, वे कुछ विक्षिप्त भी हो जाती हैं। ऐसी हालतमे वे यह ख़याल करने लगती है कि आजाद जिन्दा है और जान-बूझकर हमे तग कर रहा है, मिलने नही आता! आजादकी बाल्यावस्थाकी झलक उनके नेत्रोंमे ('नेत्र'मे कहना चाहिए, क्योंकि माताजी आजादके लिए सिर पटक-पटककर अपनी एक आँख खो चुकी हैं।) अब भी विद्यमान है, जब वह एक ओरसे पीछेसे आकर कन्धा

पकडकर 'ता' किया करता था और फिर दूसरी ओरसे कन्धा पकडकर 'ता' किया करता था।

माताजी कहती है—"सब जगह देख आई, चन्द्रशेखर नही मिला। सातार नदीके किनारे नही मिला। ओरछामे नही मिला। त्रिवेणीपर नही मिला। मुझे आशा लगी थी कि वह कही-न-कहीसे निकलकर आ जायगा, पर जब मै अलफ्रेड-पार्कमे गई और वहाँ मुझे वह जगह बताई गई, जहाँ मेरा बच्चा गोलियोसे मारा गया था, तब मेरी यह आशा भी टूट गई कि बच्चा कही मिल जायगा।"

माताजीका स्वास्थ्य दिनो-दिन बिगड रहा है। बची हुई आँखमे मोतियाबिन्द हो रहा है। साल-भर चल जाये, तो चल जाये। ग़नीमत यह है कि अभी-अभी संयुक्त-प्रान्तीय तथा मध्य-भारतीय सरकारोने २५-२५ रुपये महीनेकी पेन्शन कर दी है और इस प्रकार छै सौ रुपये दान करनेका पुण्य लूट लिया है। पर दुर्भाग्यकी बात यह है कि अठारह वर्ष भूखो मरनेके बाद जब यह पेशन आई है, तो माताजीकी भूख जाती रही है! वह पहलेसे तिहाई-चौथाई रह गई है और बूढे आदमीकी भूखका घटना अन्तिम दिनोके आगमनकी सूचना है।

माताजीके भोलेपनकी हद नही। उनकी बस दो इच्छाएँ बाक़ी है—एक तो वे किसी लड़केके विवाहमे 'बन्ना' गाना चाहती है और दूसरे द्वारिकाजीके दर्शन करना चाहती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आजादका बडा भाई जो पोस्टमैन था, इक्कीस वर्षकी उम्रमे जाता रहा। उसका विवाह करनेके लिए उन्नाव जानेवाली थी।" माताजी 'बन्ना' नही गा सकी। चार बच्चोको और अन्तमे चन्द्रशेखरको खोकर माताजीकी गोद तो बिल्कुल सूनी हो गई, पर वात्सल्यका स्रोत जहाँका-तहाँ बना रहा। वह नहीं सूखा। माताजीके मुखसे कभी-कभी बड़े मर्मभेदी वाक्य निकल पडते है—"बेटा! लोहा भट्टीमे

जल जाता है, पत्थर भी टूट-टूटकर राख बन जाता है, पर मेरा जी तो देखो कि वह पत्थर और लोहेसे भी कडा है, अठारह-अठारह वर्षसे भट्टीमे जल रहा है और अभी तक नहीं टूटा ।"

चलते समय माताजीने तीनो लडकियोको एक-एक रुपया दिया.। उन्होने कहा—"माताजी, एक ही रुपयेमेसे हम तीनो बॉट लेगी ।" पर माताजी बोली—"तुम हमारी बिटिया नही हो ? बोलो !" लडकियोने कहा—"तुम्हारी बिटिया है ।" माताजीने कहा—"तो फिर हमारा हुकुम मानो । अपने मनकी मिठाई मॅगाके खा लेना ।" इस तर्कका उत्तर भला क्या हो सकता था ? मिठईको जब माताजीने चवन्नी दी तो उसने भी मना किया । माताजीने तुरन्त कहा—"तुम हमारे बेटे नहीं हो ?" चवन्नी लेनी पडी ।

चलते वक्त मास्टर रुद्रनारायणजी बोले—"चौबेजी, एक काम तुम करा दो, तो माताजीको कुछ सन्तोष हो सकता है । भाबरामे, जहॉ आजादका जन्म हुआ था, कोई स्मारक बनवा दो—एक कमरा और बरामदा ही सही और आज़ादके कार्यक्षेत्र झॉसीमे या अलफ्रेड-पार्क प्रयागमे उनकी एक मूर्ति ।"

मास्टरजी स्वयं अत्युत्तम चित्रकार तथा श्रेष्ठ मूर्तिकार भी है । मैने कहा—"मास्टरजी, किसे इतनी फिक्र है कि माताजीके अन्तिम दिनोमे उन्हें सन्तोष दे ? हॉ, श्री जवाहरलालजीने ढाई सौ रुपये माताजीके नाम भेजे है और भविष्यमे भी प्रबन्ध करनेका वचन दिया है, पर ऐसी सहृदयता तथा कर्त्तव्यशीलता क्या हमारे अन्य नेताओं अथवा धनाढ्योंमे भी है ? 'इण्डिया रिपब्लिक' बनने जा रही है, पर इण्डियन रिपब्लिकन आर्मीके सचालक चन्द्रशेखर आज़ादको लोग भूल गये हैं ! और फिर ईधर कोनेमे पड़े हुए पत्रकारकी बात सुनेगा कौन ?"

मोटर तैयार थी, माताजी चल दीं। आँखोंके सामने आज़ादका और उनके माता-पिताका जीवन चल-चित्रकी भाँति एक साथ घूम गया।

आजादका साबूदाना खाना। माथेपर वह डिठौना। बर्फोंका प्रेम, पिताजीका अक्खड़पन। माताजीकी कोमलता। चन्द्रशेखरका घरसे भागना। काशी पहुँचना। जेलमें बेतोंकी सजा। आजादकी वह भीष्मप्रतिज्ञा: 'सरकार मुझे ज़िन्दा न पकड़ सकेगी।'

आज़ादका जवाहरलालजीसे मिलन और उसके बादकी वे सब घटनाएँ जो भारतीय स्वाधीनता-संग्रामका अध्याय ही बन चुकी हैं।

और अलफ्रेड-पार्कमें माताजीका वह करुण विलाप!

आज़ाद फरवरी १९३१ में शहीद हुए और तबसे १८ वर्षतक हम लोगों द्वारा माताजीकी वह घोर उपेक्षा!

क्या कोई कृत्रिम सिनेमा इस सजीव चित्रका कभी मुकाबला करेगा?

जुलाई १९५०]